प्रकाशक—

सन्मति-ज्ञान-पीठ,

लोहामण्डी, आगरा ।

संम्वत् २०११
सन् १९५५
मूल्य ३॥)

मुद्रक—

प० नागेन्द्रनाथ शर्मा गोस्वामी,
दी कौरोनेशन प्रेस,
फुलहट्टी बाजार, आगरा।
फ़ोन नं० १७१

मानव-जीवन के वे क्षण कितने मधुर और कितने प्रिय होते हैं, जिनमें सन्त-जनों का चिर समागम चिर सम्पर्क और चिर मिलन समुपलब्ध होता है। श्रद्धा शील भक्त-जन वैसे पुण्य-पवित्र पलों में आनन्द-विभोर हो उठते हैं। महान् स्थानकवासी समाज के इतिहास में २०१० का विक्रम संवत् और १६५३ का सन् कितना मोदमय और कितना मङ्गलमय था, जिस शुभ समय में हमारे महान् समाज के महान् अग्रणी सन्तों का जोधपुर में सयुक्त वर्षावास था। समग्र स्थानक वासी समाज के लिए वह सौभाग्य-पूर्ण काल बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था, बड़ा ही गौरवशाली था।

सोजत सन्त-सम्मेलन की परिसमाप्ति की मोद भरी वेला में एक प्रस्ताव के द्वारा यह निर्णय किया गया कि "किसी भी नगर में समाज के चिन्तनशील विद्वान् सन्तों का एक संयुक्त वर्षावास हो, जिसमें समाज में प्रचलित परम्पराओं, परस्पर विरुद्ध मान्यताओं और विभिन्न भेद-ग्रस्त सिद्धान्तों पर गम्भीरता के साथ विचार-चर्चा हो।"

जोधपुर वालों ने कथित प्रस्ताव का समर्थन करके ही सन्तोष नहीं मान लिया, बल्कि उसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए अपनी श्रद्धा और भक्ति भी सन्त-चरणों में समर्पित करके अपने को बड़भागी बना लिया। फलतः परम श्रद्धेय उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी म० के महान् नेतृत्व में—श्रद्धेय प्रधान मन्त्री श्री आनन्द ऋषि जी म०, सहमन्त्री पण्डित-रत्न श्री हस्तीमल जी म०, श्रद्धेय वाचस्पति श्री मदनलाल जी म०, श्रद्धेय कविरत्न श्री अमरचन्द्र जी म० और पण्डित-रत्न श्री समर्थमल जी म० का संयुक्त वर्षावास स्वीकृत कराने के लिए जोधपुर संघ को जो महान् भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा, वह कम महत्त्वपूर्ण न था, श्रद्धेय मदनलाल जी म० और श्रद्धेय कवि जी म० को तो जयपुर से ४० मील दूर रह जाने पर भी मार्ग में से वापिस लौटना पड़ा। इसमें महान् जोधपुर संघ का श्रद्धा बल तो था ही, परन्तु उप-प्रधान कानमल जी नाहटा, माधोमल जी लोढ़ा और खींचन-वाले चम्पालाल जी साहब का भी विशेष प्रयत्न था ही। इस महान् कार्य की सिद्धि के लिए उन्हे आगरा और देहली भी जाना पड़ा। श्रद्धेय कवि जी म० का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। किन्तु, जोधपुर संघ के विशेष विनय पर और सन्तों के प्रेम-भरे आग्रह पर लौटने की मनो-भूमिका न होने पर भी लौटना ही पड़ा। और अस्वस्थ दशा में ही भीष्म-ग्रीष्म का विहार करते हुए जोधपुर पहुँचना पड़ा।

जिस भावना को लेकर जोधपुर का वर्षावास स्वीकृत हुआ

था, उस पुण्यमयी भावना को वहां कितना मूर्त रूप मिला ? उस की तह में जाने का और छान-बीन करने का न यहाँ प्रसंग है, और न मेरा अधिकार ही इतना विराट है। फिर भी इतना तो परम् सत्य है, कि जोधपुर में जो देखा, जो सुना और जो अनुभव किया, वह मधुर तथा प्रिय था।

जोधपुर—जो मरुधर धरा की राजधानी होने का गौरव रखता है:—जितना महान् है,—वहाँ की जनता भी उतनी ही अधिक भावुक, श्रद्धाशील और भक्ति प्रवण कही जा सकती है। एक राजधानी के नागरिकों में जितनी योग्यता और महानता होनी चाहिए, उससे भी अधिक जोधपुर में देखने और सुनने को मिला। इस स्फूर्ति, चेतना और भाव प्रवणता का एक पहलू यह भी था, कि उस काल में जोधपुर नाना संस्कृति और धर्मों का एक सुन्दर सङ्गम बन गया था।

एक ओर सिंहपोल में श्रमण-संघ के महान् सन्तों की व्यास-पीठ लगी थी, दूसरी ओर मोती चौक में तेरापन्थी आचार्य तुलसी जी का आसन लगा था, और एक तरफ वैष्णव सन्त राम सुखदास जी अपनी उपदेश वीणा के तारों को झंकृत कर रहे थे।

जोधपुर के सिंहपोल में मानव-मेदिनी की जो विशालता, अजब-गजब की जो रौनक और महान् श्रमण-संघ के महान सन्तों के प्रवचनों के व्यापक प्रभाव की जो प्रभा तथा विचार-चर्चा की जो मनहरी सुगन्ध प्रसृत हो रही थी, वह

अपना दूसरा शानी नहीं रखती। सिंहपोल के रंग-मंच से कभी श्रमण-संघ के महातपस्वी और महास्थविर पूर्णमल जी म० अपनी सिंह गर्जना करते थे, कभी परम श्रद्धेय उपाचार्य श्री जी म० अपनी मेघ गम्भीर ध्वनि से मानव मनो-मयूरों को आनन्द विभोर करते थे, कभी श्रद्धेय प्रधान मन्त्री जी म० की संगीतमयी मधुर वाग्धारा जन मानस को आप्लावित करती थी, कभी श्रद्धेय सहमन्त्री हस्तीमल जी म० अपने विद्वत्ता-पूर्ण प्रवचनों से जन-जागरण की भेरी बजा रहे थे, कभी श्री समर्थ मल जी म० अपने गम्भीर शास्त्र ज्ञान का परिचय देते थे, कभी श्रद्धेय वाचस्पति जी म० जन-जन के मानस की प्रसुप्त भावनाओं को जगाने वाले अपने तूफ़ानी भाषणों से जनता को उद्बोधन देते थे और कभी पण्डित-रत्न श्रद्धेय श्रीमल जी म० अपने क्रान्तिकारी भाषणों से "सस्तेनो दण्डमर्हति" का जय-आघोष करते थे। तपस्वी श्रीचन्द्र जी म० भी व्याख्यानों का श्री गणेश कर के जनता को ज्ञान लाभ देते थे।

परन्तु,—रविवार को, क्योंकि उस रोज़ कालेज, स्कूल और सरकारी छुट्टी होने से—और विशेष पर्व दिवसों पर श्रद्धेय कविरत्न श्री अमरचन्द्र जी म० अपने अमृत-वर्षी प्रवचनों से जन-मानस को उद्वेलित करते थे। कवि श्री जी की दार्शनिक विचार धारा का जोधपुर की जनता के मानस पर जो विराट और व्यापक प्रभाव पड़ा, उसकी प्रभा युग-युग तक जन-मानस को आलोकित करती रहेगी। स्वामी रामतीर्थ की तरह

अपनी सहज मस्ती में जब कवि श्री जी म० कवित्वमयी भाषा में प्रवचन करते थे, तब जनता मन्त्र मुग्ध हो जाती थी। जैन संस्कृति और जैन-धर्म के मर्म को खोलने वाली वाणी से कवि श्री जी ने जनता की प्रसुप्त चेतना में जो स्फूर्ति और जागरण ला दिया था, वह कवि श्री जी की कवित्वमयी प्रतिभा का ही चमत्कार है। उनकी वाणी में वह जादू है, जो अपने विरोधी के विरोध को विनोद में परिवर्तित करके मधुरता और मोद भरा वातावरण पैदा कर देता है। कवि श्री जी के प्रवचनों में सहज सरसता, सुगम गम्भीरता और धर्म तथा संस्कृति के रहस्य-मर्म खोलने का स्वाभाविक चातुर्य छिप नहीं सकता। उनकी वाणी अपनी एक अलग शैली है, उनके विचार अपना स्वतन्त्र चिन्तन और मनन है, तथा उनका वर्तन अपना एक विशेष वर्तन है, जिसमें अप्रकट कुछ भी नहीं है। यही एक कारण है कि जोधपुर की जनता पर आपके प्रवचनों का विशेष प्रभाव पड़ा।

कवि श्री जी म० के प्रवचन सिंहपोल में ही नहीं, जसवन्त कालेज, महाराज कुमार कालेज, बालनिकेतन और सरदार हाई स्कूल जैसे महत्त्वपूर्ण स्थानों पर भी हुए थे। प्रस्तुत पुस्तक "जीवन की पाँखें" में जोधपुर के उन्हीं प्रवचनों का सुन्दर संकलन और सम्पादन हुआ है। सभी प्रवचन समुपलब्ध न होने से जो प्राप्त हैं—उन्हीं में सन्तोष करना पड़ता है। काश, सभी प्रवचन लिखे जाते और उपलब्ध होते, तो जनता को

विशेष लाभ मिल सकता था।

जोधपुर संघ के महामन्त्री कृष्णमल जी लोढ़ा और प्रवचन-विभाग के प्रबन्ध-कर्ता माधोमल जी लोढ़ा का विशेष रूप से अनुग्रह रहा है, कि जिनके सद्भाव-पूर्ण सहयोग-दान से प्रवचनों की पाण्डुलिपि 'सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा' को प्राप्त हो सकी और उनका प्रकाशन किया जा सका।

आगरा
सन्मति ज्ञान-भवन,
२६—१—५५

रतनलाल जैन,
मन्त्री।

कविरत्न श्री अमर मुनि

व्यक्तित्व की महिमा और महत्ता आलोक के ही सदृश उज्ज्वल होती है, उसकी महानता सर्वव्यापी होते हुए भी लौकिक चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होती—वह तो प्रकाश और वायु के समान सर्वत्र व्याप्त होते हुए प्रत्येक स्थान को अन्धकारहीन और प्राणमय बनाती रहती है। उसकी एक ही झलक प्रातः कालीन सूर्य की प्रथम तेजोमय रश्मि की भाँति नवीन सृष्टि और आलोक विकीर्ण कर देती है—ऐसे व्यक्तित्व में जीवन के आदर्श यथार्थ बन जाते है। उपाध्याय अमर मुनि के प्रथम दर्शन में ही मैंने उनमें ऐसे ही प्रभावशाली महान् व्यक्तित्व के दर्शन किये—उसकी उसी महिमा और महत्ता के ! ऐसा लगा कि इस जैन मुनि में मुनित्व के समस्त प्रत्यक्ष और परोक्ष लक्षण, महानता के चतुर्दिक उपकरण समग्र रूप में विद्यमान हैं, और इनका जीवन एवं चिन्तन थोथी रूढ़ियों में, जर्जरा सड़ी गली परम्पराओं और संकीर्ण साम्प्रदायिकता से बहुत ऊपर उठकर मानवता के सच्चे कल्याण साधन में सन्निहित है।

उस दिन जन्माष्टमी का महान पर्व था। भारतीय इतिहास और जीवन की अनुपम घटना। कविजी जन्माष्टमी पर व्याख्यान दे रहे थे—मैंने पहलीवार उनका प्रवचन सुना। उनमें महान व्याख्याता के समस्त गुण वर्तमान है। भाषा का प्रवाह और शैली की प्रौढ़ता विशेष !—वह श्रीकृष्ण का उद्बोधन दुहरा रहे थे—

कवि जी कह रहे थे—दुर्बलता कौन-सी ? मोहयुक्त भावना को जो जीवन से इकरार नहीं इनकार कर रही थी, जो धर्म

और कर्तव्यगत उल्लास और आनन्द को वृथा पीड़ा समझकर जीवन को खोखला बना रही थी—श्रीकृष्ण ने उसी के लिए—

कह कर अर्जुन के मन और तन में बल फूँका; उसे आत्म साधन और अवलम्बन का मन्त्र दिया। वे स्वयँ केवल सारथि ही रहे—रथ हाँकते रहे। युद्ध और संग्राम अर्जुन ने ही किया, विजय भी उसी की हुई। श्रीकृष्ण ने सच्चे व्यक्ति-धर्म, लोक-धर्म की घोषणा की—आज का त्यौहार हजारों हजार वर्ष की यात्रा में—हमें वर्तमान भारत के दयनीय भारतीयों को हजारों हजार मोहग्रस्त कर्तव्यच्युत अर्जुनों से यही कह रहा है—व्यक्ति, समाज और राष्ट्र से।

मैंने पहली बार जैन मुनि के प्रवचन में व्यक्ति की मर्यादाओं का समाज और लोक दर्शन के साथ समन्वय देखा, देखा भारतीय संस्कृति के विभिन्न धर्मों और दर्शनों की वाह्य विविधता के भीतर जो साम्य और एक-रूपता है, जो मानवीय मर्यादाएँ हैं, कवि जी उसे ही जता रहे हैं। निष्पक्ष और निःसंकोच भाव से। विश्व-विद्यालय के एक प्राध्यापक का जिस ने आज के वाह्य जीवन में धर्म की विशालता का नहीं संकीर्णता का, प्रगति का नहीं, रूढ़ि का, समन्वय का नहीं, विग्रह का, वैषम्य और विष देखा है। यह सुनकर मन फूल उठा। उस भरे हुये जन-समूह के मध्य इस सच्चे साधु और दार्शनिक को मैंने नमस्कार किया—मत्थराण वंदामि।

उस दिन से मैंने कई बार अमर मुनि के प्रवचन सुने हैं।

उनके दर्शनों का लाभ उठाया है—उनके अगाध ज्ञान और अध्ययन की थाह पाने की चेष्टा की है। हर बार खाली ही गया और भरा-पूरा लौटा। संतुलन और संकल्प के बीच सरस्वती के दर्शन किये। ऐसा लगा कि जैन धर्म गत समस्त मुनि लक्षणों के साथ शान्ति, स्निग्धता और दिव्य सौम्यता—इनके व्यक्तित्व में चारों ओर से भरी पूरी है। कालिदास द्वारा वर्णित महानता की यह सच्ची और साक्षात् मूर्ति हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी से कोरी अध्यात्मवादिता के विरुद्ध एक आन्दोलन चल पड़ा था। कारण, इस कोरे अध्यात्म के पीछे एक धार्मिक परम्परा अवश्य थी। पर मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक जटिलताओं एवं उत्तरदायित्वों का हल नहीं था। केवल विरोध और त्याज्य था। वाह्य आडम्बरों और परम्पराओं में केवल धार्मिक अनुष्ठान और क्रियायें ही शेष बची थीं—इसीलिए वह अध्यात्म प्रत्यक्ष जीवन के प्रश्नों का हल नहीं कर सका—पीछे जो विचार क्रान्ति राम, कृष्ण, दयानन्द, विवेकानन्द द्वारा आई, उसमें व्यक्ति, समाज और वस्तु तीनो का एकीकरण 'आध्यात्मीकरण' हुआ ···· 'उपाध्याय अमर मुनि जैन समाज के वर्तमान विवेकानन्द हैं। वे कोरे जड़हीन अध्यात्म और वन्धनों से रहित हैं। उनका व्यक्तित्व, समाज और राष्ट्र जीवन के एक सूत्र और स्वस्थ परम्परा में बँधे हैं। इसीलिए उनके प्रवचनों में आज की समस्याओं का हल है। आज के प्रश्नों का उत्तर मनुष्य की व्यक्तिगत, सामाजिक और

आध्यात्मिक मान्यताओं का उत्तरदायित्वों का एकीकरण है। विरोध और पार्थक्य नहीं। इन्होंने जैन धर्म और दर्शन के मूल तत्व को ग्रहण किया है। जीवन और समय की माँगो को निभाया है। वे क्रान्तिकारी, प्रगतिशील विचारक हैं। उनमें समाज और राष्ट्र की मांगें भी विद्यमान हैं। और व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का साधन भी ' धर्म की मूल मर्यादाओं के पालन का भी आग्रह है। केवल वाह्य क्रियाओं का नहीं। बहुधा धर्म का सौभाग्यकाल प्रवाह में अन्धे अनुयायियों के हाथों पड़ प्रत्यक्ष जीवन का दुर्भाग्य बन जाता है—उसका भी बटवारा होता रहता है और उसकी मूल शक्ति नष्ट हो जाती है। महावीर की एक वाणी के पहले दो रूप हुए और फिर अनेक! विरोध विविधता इतनी बढ़ी कि जैन-धर्म का दिव्यत्व जैनेतर विद्वानों के समक्ष आया ही नहीं—अपरिग्रह प्रधान धर्म के अनुयायी परिग्रह में पड़ बटवारे और अधिकारों के लिए झगड़ने लगे।

मैंने देखा कि इस साम्प्रदायिक तूफानों के बीच श्रावकों और मुनियों के मध्य अमर मुनिजी जिब्राल्टर की दृढ़ चट्टानों की भाँति स्थिर हैं। और उन्हीं के भगीरथ प्रयत्नों का परिणाम हुआ कि स्थानकवासी श्वेताम्बर एक संघ में सम्मिलित होकर एक आचार्य ही मानने लगे! ऐक्य की इस स्थापना को स्थायी रखने में वे आज भी अस्वस्थ शरीर और पीड़ित हृदय लेकर भी कटिबद्ध हैं। कवि जी एक सिद्ध—हस्त लेखक भी हैं, उनके

ग्रन्थों में जैन-धर्म के विवेचन के साथ एक गहन दार्शनिक योजना के दर्शन होते हैं, जो नितान्त मौलिक हैं। उनके विचार अत्यन्त स्पष्ट! उनका शरीर अस्वस्थ और रुग्ण है पर शक्ति और उत्साह अदम्य है। जिस आन्तरिक उल्लास और आनन्द का वे अपने प्रवचनों में उद्बोधन देते रहते हैं—वह सतशः रूप में उनमें विद्यमान है, उनकी मुस्कान के भीतर आत्मा की विजय स्पष्ट है और उनके अस्वस्थ शरीर में अत्यन्त स्वस्थ और महान् आत्मा! आचार्य मानतुंग ने कहा है—

सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र लोके!

तुम्हारी महिमा सूर्य से बढ़ कर है—अनन्त गुणाधिक—पर अन्य उपमा कहाँ खोजें। वर्तमान हतभागी पीड़ित समाज उन्हें सुन कर, पढ़ कर और उनके दर्शन कर वास्तविक आध्यात्म के आनन्द और उल्लास का अनुभव करता है—आज की भौतिक पीड़ाओं के लिए उनका जीवन और दर्शन सच्चा आध्यात्मिक हल है।

यह है, उपाध्याय अमर मुनि के व्यक्तित्व की झाँकी—उनके इस चातुर्मास ने जोधपुर के नागरिक जीवन में नवीन उत्साह और आध्यात्म की प्रेरणा की है। वह उनका ऋणी रहेगा। आज आडम्बर और प्रचार का युग है। बड़े-बड़े धर्माचार्य और पीठाधीश भी इससे अछूते नहीं—पर इस महान् मुनि में न किसी आडम्बर की प्रस्तावना है—न प्रचार की भूमिका और न आत्म-श्लाघा का प्राक्कथन। किसी समाचार पत्र की दो

पंक्तियाँ इन्हें गद्-गद् नहीं बनातीं—न किसी नेता की प्रशस्ति इनका 'साइन बोर्ड' है। न इनका ज्ञान हुयेनत्सॉग कृत वर्णित उस बौद्ध भिक्षु का है, जो ताड़ पत्रों से कटि-बद्ध होकर चलता था, जिससे उसका अपरिमेय ज्ञान फट न जाए।

संयम में स्थिर, आन्तरिक और बाह्य परिग्रहों से मुक्त, घटकाया के रक्षक, पंच-महाव्रतधारी इस दिव्य जैन मुनि में मनुस्मृति के समस्त लक्षण, बौद्ध धर्म की समस्त पारमिताएँ और ईशा के समस्त आदेश दृश्यमान हैं। उनका प्रभाव जैन और जैनेतर समाज में स्पष्ट है। लोक कल्याण की भूमिका में जो जीवन और चरित्र रहा करते हैं। व्यक्ति के आध्यात्मिक जागरण के भीतर जो जीवन दर्शन पीठिका के रूप में स्थित रहता है—वही व्यक्तित्व जीवन चरित्र और दर्शन कवि जी महाराज अमर मुनि का है—गीता ने कहा है—

'यद् यद् आचरति श्रेष्ठ—स्तत् तत् देवेतरो जनः।
सोयत् प्रमाणं कुरुते, लोक स्तद नु वर्तते॥

देव आत्माओं का अनुकरण लोक-हित का साधन है। ऐसे महान् साधु को, व्यक्तित्व को मेरा कोटि-कोटि नमस्कार-मेरी वन्दनाएँ है।

—प्रो० कल्याणमल लोढ़ा,
प्राध्यापक, कलकत्ता विश्व-विद्यालय।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१ जीवन की पाँखें	....	१
२ आत्मा को भी ग्रहण लगा है	....	३३
३ अपराजित जीवन	...	४८
४ समाज में ही व्यक्त समाया है	...	६८
५ इन्कार नहीं,—इक़रार	...	६४
६ श्रीकृष्ण	....	१२३
७ १५ अगस्त	....	१७०
८ रक्षा के धागे	...	१८६
९ भैया-दूज	....	२१६
१० सद्गुरु	....	२४४
११ सन्त-दर्शन	....	२६०
१२ महापर्व पर्युषण	....	२७७
१३ युवक-शक्ति राष्ट्र की गति है	...	२८६

जीवन की पाँखें !

भारतवर्ष की संस्कृति, सभ्यता, चिन्तन और मनन के निरन्तर गतिशील तथा आनन्दप्रद प्रवाह में निहित दर्शन की आत्मा उसके चिन्तकों के आचार और विचार पर आधारित है। चिन्तन और मनन के सहारे भारतीय विचारक अपने अन्तर्जगत् में बहुत गहराई तक पैठा है और उसने यह खोज निकाला है कि इस विराट् सृष्टि में उसका अस्तित्व क्यों और किस रूप में है। उसका जीवन किस केन्द्र पर टिका है और दूसरों का किस केन्द्र पर। उसका जीवन किस रूप में चल रहा है और विश्व की अन्य सृष्टि का किस रूप में ! और दर्शन की भाषा में इस प्रकार आत्म-निरीक्षण करने अथवा अपनी और विश्व की आत्मा को देखने को ही विचार करना कहा गया है। और

आचार का अर्थ है, अपने इन सत्य से ओत-प्रोत और पवित्र विचारों को नित्यप्रति के जीवन-व्यवहार में सजाना, व्यवहार में लाकर उन्हें आगे बढ़ाना।

इसीलिए हजारों-हजारों वर्षों से भारतीय साधक अपने-अपने इष्टदेव के, महान् आदर्श के सम्मुख खड़ा होकर इसी रूप में प्रार्थना करता आया है—हे प्रभु! मेरे मन में सर्वदा प्रकाशमय और मंगलमय विचारों का ही आविर्भाव हो। सर्वदा शुद्ध और पवित्र संकल्प ही जाग्रत हों। चाहे मैं अकेले में सोचूँ अथवा सब के बीच—मेरे मन में सत्य से परिपूर्ण विचारों का ही प्रकाश जगमग-जगमग करता हो। मेरा मन सुन्दर और आनन्दप्रद संकल्पों से ही भरा हो। उसमें निहित भावनाएँ शुद्ध और सात्विक ही हों।

वास्तव में, भारतीय दर्शन के इस मुक्ति-दाता आलोक में जब आत्मा अपने सत्य, सुन्दर और कल्याणमय विचारों को सहायता से जीवन-पथ पर आगे बढ़ती है, तो, वह समय सभी के लिए मंगलमय और आनन्दमय होता है। स्वयं में तो वह आत्मा परमानन्द का अनुभव करती ही है; मगर दूर और पास के, वर्त्तमान और भविष्य के अन्य अनेक जीवन भी उससे लाभान्वित होते हैं। उन विच [illegible] हों [illegible] ए
मय उस पथ पर वे भी मु [illegible] न्
विचारों में से प्रस्फुटित होने
और शाश्व [illegible] प्रय

और अमित विक्रमी !

तो, जब मनुष्य के भीतर ऐसे कल्याणप्रद विचारों को ढूँढ़-निकालने की शक्ति विद्यमान् है—तो, वह अपनी उस शक्ति को कार्य-रूप में परिणित क्यों नहीं करता। चिन्तन और मनन के द्वारा विचार-सागर में गहरा क्यों नहीं पैठता। अन्तर्जगत् की गहराई में क्यों नहीं उतरता। ऊपर के ही और थोथे विचारों के सहारे ही इस अनमोल जीवन को क्यों गुज़ार देता है। तो, इन प्रश्नों के उत्तर में मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि यह उसकी सबसे बड़ी मूर्खता है। सबसे बड़ा पागलपन है। निकम्मापन और जड़ता है।

तो, अपने और सभी के जीवन को मंगलमय बनाने के लिए अपनी विचार-बुद्धि से काम लीजिए। चिन्तन और मनन के द्वारा, अपने ही भीतर निस्पन्द पड़े विचारों के सागर को हलचल से युक्त कर दीजिए। और इस प्रकार विचारों को जगाकर जीवन, समाज और पंथों के कूढ़े-कर्कट को साफ कर दीजिए। समय-समय पर, ठीक तरह से, जीवन को माँजते रहिए-विचारों की सहायता से ! यदि जीवन में या जगत् में विचार नहीं—तो, वह जीवन और जगत् मुर्दा है। जब जीवन और जगत् में शुद्ध विचार और पवित्र संकल्प नहीं रहते तो उनकी वाह्य साधनाएँ भी गड़बड़ा जाती हैं। भारतीय इतिहास के पन्नों पर ऐसे अनेक विचार-हीन मानवों के चरित्र का अंकन हुआ है, जो अपनी इसी निर्बलता के कारण जीवन की अँधेरी गलियों

में ठोकरें खाते फिरे हैं। वे तो बराबर यही समझते रहे कि वे प्रगति के पथ पर आगे बढ़ रहे हैं, अपनी जीवन-यात्रा को सुचारु रूप में पूरा कर रहे हैं, मगर वास्तव में उनकी दशा ठीक तेली के उस बैल के समान रही, जिसकी आँखों पर पट्टी बँधी रहती है और दिन भर घानी के चारों ओर ही चक्कर काटता रहता है—और संध्या समय जब परिश्रम से थक कर चकनाचूर हो-जाता है तो समझता है कि आज उसने बीस-पच्चीस मील की यात्रा जरूर तय करली, मगर ज्योंही उसकी आँखों पर से वह पट्टी हटाई जाती है तो देखता है कि वह तो अपने मालिक के उसी घर के उसी आँगन में खड़ा है, जहाँ वह यात्रा करने के लिए सुबह खड़ा हुआ था।

चुंगी का टैक्स बचाने की दृष्टि से एक व्यौपारी सीधे मार्ग से न जाकर टेढ़े मार्ग पर पड़ लिया; मगर रात्रि का समय होने के कारण वह मार्ग भूल गया और रात्रि-भर यूँही चक्कर काटता रहा। प्रातःकाल हुआ तो उसने देखा कि वह तो चुँगी के नाके पर ही आ-पहुँचा है। तो, उस व्यौपारी की भी ठीक वही दशा हुई, जो तेली के बैल की होती है। और विचार-हीनता के कारण आज यही दशा मानव-समाज की हो-रही है। इसीलिए भारतीय साधक सबसे पहिले विचारों पर बल देते हैं। ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने भी अपनी वाणी में यही फ़रमाया है—'पढमं नाणं तओ दया'—अर्थात् पहिले अपने मन को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करो। मन

में शुद्ध और सात्विक विचारों का एक संसार बसा लो—और तब, उस जाज्वल्यमान प्रकाश में जीवन की लड़ाई लड़ो। ज्ञान की मशाल से उत्पन्न विचार रूपी प्रकाश की सहायता से आत्मा की पवित्रता के लिए, परिवार, समाज तथा राष्ट्र की पवित्रता के लिए जीवन-पथ पर निर्द्वन्द होकर आगे बढ़ो। मानव-जाति का उत्थान इसी में निहित है। आत्मा का उत्थान इसी में समाया है।

तो, किसी भी आत्मा और परिवार, समाज और राष्ट्र के रूप में चैतन्य जगत् का उद्धार तभी सम्भव है, जब उसमें शुद्ध और सात्विक विचारों की चल-लहरी सर्वदा प्रवाहित होती रहे। इसीलिए कहा गया है—जो अज्ञानी तथा विचार-हीन आत्माएँ हैं, जिनके भीतर सदा अज्ञान का अंधकार घनीभूत रहता है, वे संसार में उन्नति की ओर किस प्रकार अग्रसर हो-सकती हैं। जिन्होंने ज्ञान के प्रकाश को कभी देखा ही नहीं है, वे भले-बुरे की पहचान करना क्या जानें। हित और अहित का भेद वे क्या जानें। संसार क्या है, स्वर्ग और नरक क्या होता है, उनको क्या पता। मोक्ष किसे कहते हैं, आत्मा की ज्योति क्या होती है, परमात्मा का प्रकाश कैसा होता है, उन्हें क्या मालूम। संसार के समस्त बन्धनों को तोड़कर किस दूसरे लोक में पहुँचकर आत्मा मोक्ष को प्राप्त होती है, इस भेद को वे क्या समझें।

तो, यह तो रही—अज्ञानी आत्माओं की बात, मगर संसार में कुछ ऐसी आत्माएँ भी सर्वदा निवास करती हैं, जो ज्ञान के

आलोक से तो आलोकित रहती हैं, लेकिन जिनके आचरण में वह आलोक नहीं विराजता। जिनका आचार उन शुद्ध और सात्विक विचारों के अनुरूप नहीं होता। जो, केवल विचारों की शुद्धता को ही आत्म-कल्याण का साधन मान लेती हैं। विचार-सम्पन्न; मगर आचार-हीन वे आत्माएँ। इन्हीं आत्माओं को सम्बोधित करते हुये एक स्थान पर आचार्य भद्रबाहु फ़रमाते है—मोक्ष की ओर उड़ चलने के लिए विचार और आचार नाम की दोनों ही पाँखों की आवश्यकता है। यदि इनमें से एक है और एक नहीं—तो, पृथ्वी पर भी सीधे पैर नहीं पड़ेंगे। मोक्ष की ओर जाने की बात तो बहुत दूर की है। इसलिए आवश्यकता दोनों ही पाँखों की है। दो ही पैरों की सहायता से आदमी सुचारु रूप में आगे बढ़ता आया है और दो ही पैरों से हमेशा बढ़ेगा भी। तो, विचार तो आवश्यक हैं ही, मगर आचार भी उतना ही आवश्यक है। अन्यथा केवल विचारों से ही कुछ भी होना-जाना नहीं। यह तो ऐसी बात है, जैसे कोई दरिद्र व्यक्ति रोज़ ही सोचे कि वह धनवान् बनेगा और धनवान् बनने के लिए विचारों की दुनियाँ तो अपने चारों ओर बसा ले, मगर धनवान बनने के लिए अपने उन विचारों को कार्यरूप में परिणित करे ही नहीं, आचरण मे उन विचारों को लावे ही नहीं—तो, इस प्रकार तो उसका समूचा जीवन बीत जावेगा, मगर वह धनवान् नहीं बन सकेगा। नहीं बनेगा—और जीवन भर ग़रीब और दरिद्र ही बना रहेगा।

मोक्ष केवल ज्ञान के बलबूते पर ही प्राप्त नहीं हो सकता—उसके लिए क्रिया की भी नितान्त आवश्यकता है। पागल दार्शनिक की भाँति अगर विचारों के जगत् मे ही रहे—तो, क्या हुआ—कुछ भी तो नहीं। तो, विचारो को आचरण में सँजोना भी उतना ही आवश्यक है, जितना विचारों की दुनियाँ बसाना—अथवा ज्ञान संचय करना। जब जीवन को माँजने का प्रश्न आया—तो, भाग खड़े हुए, समाज की गन्दगी को साफ़ करने का मौक़ा आया—तो, उस ओर ध्यान ही नहीं दिया—तो इस प्रकार केवल विचारों की दुनियाँ में लिप्त रहने से क्या लाभ ? तो, जीवन के क्षेत्र में, परिवार, समाज और राष्ट्र के क्षेत्र में विना आचरण के विचारवान् मनुष्य भी उतना ही निकम्मा है, जितना कि विचार-हीन मनुष्य। जब वह ज्ञानवान् होकर भी स्वयँ को, परिवार को, समाज को, राष्ट्र और समूचे विश्व को प्रगति के पथ का निर्देश नहीं कर सकता, मानव-समाज की सेवा नहीं कर सकता—तो, पढ़ा-लिखा बेवकूफ़ नहीं है—तो और क्या है !

तो, ज्ञान संचय करो तो उसको आचरण में भी लाओ—तभी, कल्याण सम्भव है, अन्यथा नहीं। तो, संसार के कल्याण के लिए और स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिए विचारवान् बनो, ज्ञानवान् बनो और अपने संचित ज्ञान को व्यवहार में भी लाओ। अपना आचरण उन शुद्ध और सात्विक विचारों के अनुरूप बनाओ। वास्तव में, ज्ञानहीन मनुष्य एक अन्धे मनुष्य

के समान है। वह जीवन में ठोकरें खाता हुआ ही अपने जीवन को बिता देता है—और इस प्रकार अगर वह अनगिनती जीवन भी व्यतीत कर देगा—तो भी वह मोक्ष या परमपद प्राप्त नहीं कर सकता। आवागमन के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। और न संसार को ही कल्याण के मार्ग पर अग्रसर कर सकता है। और न कुछ उसकी सेवा ही कर सकता है। तो, मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान भी जरूरी है और ज्ञानमय आचरण भी! तो, विचारवान् तो बनिये ही; मगर आचरण भी अपना उन विचारों के अनुरूप ही बनाइये।

एक समय था जब भारतवर्ष में ऐसे ही मनुष्यों का बाहुल्य था—तो, भारतवर्ष की दशा ही कुछ दूसरी थी। उन दिनों यहाँ के रहने वालों का चरित्र ही दूसरा था—मगर शनैः शनैः वह अधोगति को प्राप्त होता गया—और एक दिन वह दिन आपहुँचा कि भारतियों में से राष्ट्रीय-चेतना विलुप्त-प्रायः होगई—तो भारतवर्ष परतन्त्र हो गया। वह गुलामी में जकड़ गया, और फिर इसने एक हजार वर्ष गुलामी के देखे—तो, अपनी आत्मा के बल को बिलकुल खो-सा दिया। मगर कुछ वर्ष पूर्व अपने कतिपय चरित्रवान् सपूतों के त्याग और बलिदान के बल पर वह स्वतन्त्र हुआ; मगर अधिकांश भारतियों के चरित्र पर परतन्त्रता के चिन्ह अभी भी विद्यमान हैं, जो, एक लज्जा की बात कही जा-सकती है। घोर लज्जा की। जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ, बहुत से व्यक्तियों को कहते सुनता

हूँ—स्वराज्य आया होगा, जिन लोगों के लिये आया होगा। हम समझते हैं, इससे तो अंग्रेजों का ही राज्य अच्छा था। तो, उनकी यह बात दासता की बात नहीं है तो और क्या है! इसीलिये तो मैं कह रहा हूँ, हिन्दुस्तान की मानसिक गुलामी अभी दूर नहीं हो सकी है—और इसका एकमात्र कारण है, विचार-हीनता! तो, इस गुलामी को दूर करने के लिये विचारवान् बनिये। स्वयं में ज्ञान की अभिवृद्धि कीजिए और उस ज्ञान को चरित्र-रूप में ढालकर मानसिक इस गुलामी को दूर कीजिए। जरा भारतीय इतिहास के प्रथम पृष्ठ तो पढ़िये, इन पृष्ठों में आपको सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट भारतीय संस्कृति के दर्शन होंगे और आपके मन की, विचारों की यह जड़ता नष्ट हो जाएगी और उस समय के आपके पूर्वजों के समान ही आपका भी चरित्र बन जाएगा—तो, आप एक बार फिर समूची मानव-जाति को प्रकाश दे सकेंगे।

और इसी इतिहास में आप कुछ आगे के पृष्ठों में देखेंगे कि आपकी ऐसी ही भूलों के कारण भारत परतन्त्र हो गया था—तो, उन भूलों को आप फिर न दुहराइएगा। उस समय के साधकों की इसी प्रकार की गलतियों ने भारतवर्ष की राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक भावनाओं को विलुप्त-प्रायः कर दिया था। उन दिनों कुछ लोग तो ऐसे आये, जो एकांकी रूप में दार्शनिक बने तो बैठे रहे, स्वर्ग, नरक और परमात्मा का नाम ले-लेकर नारे तो बुलन्द करते रहे, मगर समाज को ज्ञान के प्रकाश

के नाम पर कुछ भी न दे सके। उसके अधःपतन में तो मूक-भाव से शामिल हुए, मगर उसे प्रगति के पथ पर न ले-जा सके। और दूसरी तरह के वे लोग आये जो क्रिया-काण्ड में ही लगे रहे। उस समय के इन साधकों की क्रिया-काण्ड के वर्णन अगर आप पढ़ेंगे-अथवा सुनेंगे—तो, आपके रोंगटे खड़े हो जायेंगे। इन साधकों की दिनचर्या दिल को दहला देने वाली थी। ओह, किस तरह उन्होंने साधना की आग में स्वयँ को झौंक दिया—और जो चिन्तन के अभाव में देह-दण्ड-रूप बनकर रह गया। स्वयँ की अथवा मानव-समाज की प्रगति के नाम पर जो बेचारा कुछ भी तो न कर सका। ऐसे ही क्रिया-काण्ड को देखकर एक बार भगवान् पार्श्वनाथ ने कहा था—

'ओह्! कष्ट तो बड़ा है। क्रिया-काण्ड के रूप में बहुत बड़ा देह-दण्ड है। मगर यह क्रिया-काण्ड उस परमतत्व या उस परम् सत्य को प्राप्त करने के लिए सुप्रयत्न नहीं कहा जा-सकता।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय इन्हीं दो प्रकार के साधकों का भारतवर्ष में बाहुल्य था। इनमें से एक तो वे थे जो केवल विचारों की दुनियाँ में ही रमण करते रहे, जिन्होंने कभी आचरण की दुनियाँ में झाँककर भी न देखा और दूसरे वे साधक थे, जो, क्रिया काण्ड के बहाने अपनी देह को भयंकर दण्ड ही देते रहे। जिन्होंने कभी भी विचार-शक्ति से काम ही न लिया। जिन्होंने उस क्रिया-काण्ड की उपयोगिता-अनुपयोगिता पर ध्यान ही न दिया। तो, कहा जा सकता है कि वह युग था, जब भारत-

वर्ष में विचारकों की दुनिया अलग बसी थी और आचरण करने वालों की दुनिया बिल्कुल अलग। विचारवान् चरित्रवान् नहीं थे और चरित्रवान् विचारवान् नहीं। जब दोनों अलग-अलग रहे—तो, भारतवर्ष के पल्ले गुलामी पड़ी। चरित्रवान् चरित्रहीन हो गये और विचारवान् विवेक-शून्य !

तो, शिव तो वह है, जिसमें विवेक भी है और विवेक पूर्ण आचरण भी। और ऐसे ही उस व्यक्ति में स्वयं को, परिवार, समाज और राष्ट्र को तथा समूचे मानव-समाज को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने की एक अलौकिक क्षमता विद्यमान् रहती है। ऐसे ही उस व्यक्ति के जो-कुछ विचारों में होता है, वही उसके आचरण में भी ! एक दिन, एक ऐसे ही विचारवान् और चरित्रवान् दार्शनिक से किसी ने पूछा—'तुम्हारा शास्त्र और पंथ क्या है?' तो, उस व्यक्ति के उस प्रश्न को सुनकर वह दार्शनिक हँसा और बोला—'जो-कुछ हूँ, सो मैं स्वयँ ही हूँ। मेरे विचार ही मेरा शास्त्र है और मेरा आचरण ही मेरा पंथ।' और उस दार्शनिक के इन शब्दों का अर्थ है, मनुष्य के विचार और उसका आचरण यह स्पष्ट रूप से बतला देता है कि वह कौन से मार्ग का पथिक है। तो, विचारवान् भी बनिये और चरित्रवान् भी ! मोक्ष के मन्दिर के द्वार तक पहुँचने के लिए दोनों ही रूपों में सामर्थवान् होना आवश्यक है। विचारवान् भी होना जरूरी है और चरित्रवान् भी !

और इसी बात को एक आचार्य के शब्दों में यों समझिए।

आचार्य कहते है—जिस प्रकार पक्षी अनन्त आकाश मे तभी ऊँचा उड़ सकता है, जब उसकी दोनों ही पाँखें ठीक हों। अगर उसकी एक पाँख बिल्कुल ठीक है और दूसरी निकम्मी या बेकार—तो, उसके लिए अनन्त आकाश मे उड़ने और ऊपर चढ़ने की बात तो बहुत दूर की है, वह दो-चार गज़ भी नहीं उड़ सकता। इसी प्रकार अगर मनुष्य की विचार नाम की पाँख तो बिल्कुल ठीक है; मगर आचरण वाली पाँख बिल्कुल बेकार—तो, वह मोक्ष के मन्दिर की दूरी को नहीं नाप सकता। दूरी नापना तो दर-किनार, वह दो-चार क़दम भी ठीक तरह नहीं चल सकता। इसी प्रकार आचार नाम की पाँख अगर ठीक हो और विचार नामक नहीं तो उसके लिए भी मोक्ष के मन्दिर की दूरी नापना कठिन हो जायेगा। तो, साधना के क्षेत्र में मनुष्य को दोनों ही रूपों में ठीक होना ज़रूरी है। दोनों ही रूपों में सामर्थवान् होना आवश्यक है।

मगर जब भारतवर्ष के साधक में यह बात न रही—तो, भारतवर्ष का ह्रास हुआ। यही कारण है, जो चन्द्रगुप्तमौर्य के भारत और आज के भारत में बहुत अन्तर है। और इससे भी पूर्व वैदिक-काल, जैन-काल और आज के भारत में ज़मीन और आसमान जैसा अन्तर मालूम होता है। धीरे-धीरे उसके कई अँग कट कर उससे अलग हो गए और वह आज लुटा हुआ-सा रह गया है। तिब्बत, इन्डोनेशिया, इन्डोचायना, बर्मा और पंजाब तथा बगाल प्रान्तों का आधा-आधा भाग उससे बिल्कुल छिन

गए और अब वह विकृत अवस्था में हमारे पास है। तो, इसकी भी रक्षा अगर हम न कर सके तो सम्भव है कि एक दिन यह भी हमसे छिन जाये। तो, इसकी रक्षा करने के लिए आवश्यक है कि हम विचारवान् बनें और अपने उन विचारों को अपने आचार में भी लाएँ। अपने आचरण को अपने विचारों के अनुकूल बनाएँ। और तब, उस दार्शनिक के समान हम में से प्रत्येक कह सके—'मेरे विचार ही मेरा शास्त्र है और मेरा आचरण ही मेरा पंथ !'

तो, आज सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने आचरण का निर्माण करें। जो-कुछ हमारे विचारों में है, वही हमारे आचरण में भी हो। हमारा आचरण भी हमारे विचारों-जैसा हो—क्योंकि जहाँ तक मैं देखता हूँ, वहाँ तक मुझे यही दीख पड़ता है कि आज के भारतीयों और भारत के अधः पतन से पूर्व के भारतीयों में इस दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है। भारतीयों की यही दशा उस समय भी थी, जो उनकी आज है। विचार उनके उन दिनों भी बहुत ऊँचे थे और वे आज भी उतने ही महान् हैं; मगर आचरण उनका न उन दिनों विचार-सम्पन्न था और न वह आज ही है। उन दिनों भी भारतीयों ने विश्व की आत्मा का सम्मान किया, सभी को एक इकाई के रूप में देखा और वे आज भी एक भी आत्मा का अपमान करना परमात्मा का अपमान करना समझते हैं। वैदिक साहित्य में राम और कृष्ण, बौद्ध-साहित्य में बुद्ध और जैन-साहित्य में भगवान्

महावीर ने जो कुछ फ़रमाया—भारतीयों ने अपनी वाणी में तो उसे ज्यों का त्यों अपनाया, मगर उन परम आत्माओं के समान उस दिव्य-वाणी को अपने आचरण में नहीं उतारा। कहने को तो आज भी सभी भारतीय यही कहते हैं:—

समूचे विश्व की आत्माएँ मेरी आत्मा के ही समान हैं। उनका दुख-दर्द मेरा अपना दुख-दर्द है। सब का उत्थान मेरा उत्थान है और सब का पतन मेरा भी पतन है। अगर संसार का एक भी व्यक्ति पतन की ओर जाता है—तो, मैं तो यही समझता हूँ कि मैं स्वयं ही उस व्यक्ति के रूप में पतन के गहरे गर्त्त में समाया जा रहा हूँ।

मगर आचरण इन विचारों के ठीक विपरीत है। पतनोन्मुख मानव-समाज को ऊपर उठाने की कोई इच्छा नहीं, कोई चेष्टा नहीं। इसके विपरीत उस ओर से तो बिल्कुल उदासीन। मगर पेट में उड़ेलने के लिए बढ़िया-बढ़िया पदार्थों की इच्छा हर समय बलवती। तो, माला हाथ में लेकर किसी को भी मूर्ख बनाने की चेष्टा निरन्तर जारी! अथवा समूचे विश्व से उदासीन होकर एकात्म-भाव में ही हर समय लीन रहना। प्रतिक्षण आत्म-सुधार की ही चेष्टा में निमग्न रहना और गिरते हुए को उठाने की बिल्कुल भी चेष्टा न करना। नेत्र मूँद कर, देखते हुए भी अनदेखा कर देना। कोई गिरता है तो गिरा करो, उनको बला से। सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना से बिल्कुल दूर! तो, फिर अगर उनके नेत्रों के सम्मुख भी किसी मा या बहिन का

सतीत्व लूटा जाए, किसी निस्सहाय या निर्बल को सताया जाये तो, उन्हें इस बात की चिन्ता बिल्कुल भी नहीं। कोई दुख से कराह रहा है तो कोई परवाह नहीं और अगर जीवन की बाजी हार रहा है तो कोई मतलब नहीं।

तो, आचरण के क्षेत्र में इस प्रकार स्वयंभू बने रहने से तो जीवन की कोई भी समस्या हल नहीं होती। जब मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तो वह मानव-समाज से एकदम अलग होकर तो रह नहीं सकता। और जब एकदम अलग होकर नहीं रह सकता तो फिर स्वयभू बनकर जीवन को किस प्रकार उन्नति के मार्ग पर अग्रसर कर सकता है? तो, उसे अपना सामूहिक उत्तरदायित्व समझना ही होगा। इस महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व को अंगीकार करना ही होगा। मेरी समझ में नहीं आता कि किसी भी व्यक्ति की यह भावना किस प्रकार सत्य हो-सकती है कि वह किसी के पतन और उत्थान में शामिल नहीं है। परिवार, समाज या राष्ट्र का कोई व्यक्ति पतन की ओर उन्मुख हो रहा है—तो, वह उससे बिल्कुल अछूता है। इस प्रकार की भावना को तो वह अपने मन में तभी स्थान दे-सकता है, जब उसमें से निकल कर सामूहिक रूपिणी चेतना अलग जाकर खड़ी हो गई हो। मगर ऐसा होना एक प्रकार से असम्भव है, क्योंकि मनुष्य के जन्म के समय से ही परिवार, समाज आदि उसके कार्यों को साधते चलते हैं और जब तक वह मृत्यु की गोद में जाता है, तब तक यह नियम इसी प्रकार चलता रहता है। तो, किसी भी

व्यक्ति का ऐसा सोच लेना कि परिवार, समाज, राष्ट्र आदि से उसका कोई भी सम्बन्ध नही है, उसकी भारी भूल कही जा सकती है।

तो, जब आपका समूचा जीवन मानव-जाति के साथ ही व्यतीत होना है—तो, व्यवहारिक जीवन में इस सत्य को अवहेलना आप क्यों करते हैं? जब आप विश्व की समूची आत्माओं को अपनी ही आत्मा के समान मानते हैं—तो, जब कोई हरिजन आपके समीप आकर बैठ जाता है तो आप बौखला क्यों उठते हैं? आपका मिजाज क्यों गर्म हो जाता है। आपका धर्म खतरे मे क्यों कर आ जाता है। क्या वह हरिजन मानव-आत्मा नहीं है? तो, जब विचारों के अनुसार आचरण करने का समय आता है, तो, ये शुद्ध और सात्विक विचार आपके कहाँ चले जाते हैं। आप सत्य-आचरण करने से हिचक क्यों जाते हैं। आपके जीवन की यह कैसी विडम्बना है।

जिज्ञासा-वश मैंने बहुत-से वैदिक-ग्रन्थों का अध्ययन किया है, वग़ैर पढ़ा है। और सब में इस सत्य को ज्यों का त्योंही पाया है। वे सब यही कहते हैं—यह संसार प्रभुमय है। विश्व की सभी आत्माओं में उसी प्रभु की शाश्वत ज्योति देदीप्यमान् है। और एक जैन-साधक ने भी यही कहा है—'सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।' अर्थात् यह जीव सिद्ध-स्वरूप है, परमात्मा रूप है।

तो, जब यह संसार हरिरूप है और हरि संसार-रूप है तो

फिर हरिजन से इतनी नफ़रत क्यों ? हरि का स्वरूप भिन्न-भिन्न नहीं है, जिसको इतना ज्ञान है तो वह इसे आचरण में सँजोकर निश्चय ही भवसागर को तैर कर पार कर जायेगा। मगर जब तक वह सत्य केवल वाणी में ही रहा और आचरण में न उतरा तो कुछ भी होना-जाना नहीं है। और कुछ हो भी नहीं रहा है—क्योंकि रात-दिन देखने में यही आता है कि शास्त्री जी श्लोकों का उच्चारण करते समय तो ऐसे मुग्ध हो रहे हैं कि जान पड़ता है जैसे ईश्वर को प्राप्त करने मे इन्हें अब बहुत ही थोड़ी कसर बाक़ी रह गई है। मगर जब उसी ज्ञान को व्यवहार में बर्तने की बात आती है तो शास्त्री जी भगोड़े बन जाते हैं। जीवन की वास्तविकता से दूर हट जाते हैं। जीवन को जीवन की कलाओं के साथ व्यतीत नहीं करना चाहते।

यही कारण है जो आज धर्म केवल मन्दिरों और स्थानकों में ही रह गया है। गुरु के चरणों में ही बंधा पड़ा है। जब भाई मन्दिरों और स्थानकों में प्रवेश करते हैं तो मालूम होता है जैसे धर्म इनके रोम-रोम में रमा है और जब इन धर्म् स्थानों से बाहर गये तो फिर तो धर्म-कर्म सब भूल गये। आचरण-हीनता की आँधियाँ मन में चलनें लगीं और उन्हीं आँधियों में वे प्रसन्नता अनुभव करने लगे। तो, यह तो ऐसी बात हुई—जैसे कोई हॉस्पिटल गया तो शान्ति अनुभव करने लगा और जब घर लौट कर आया तो वही दर्द फिर जाग उठा। फिर, हॉस्पिटल पहुँचा तो फिर संतोष माना, मगर घर आया तो फिर वही

रोना-पीटना। तो, क्या वह जीवन-पर्यन्त हॉस्पिटल में ही रहे? क्या यह जीवन हॉस्पिटल के लिए है या घर के लिए?

वास्तव में, आजकल धर्म-स्थान भी ऐसे ही अप्रमाणिक हस्पतालों के समान हो गये हैं, यहाँ आये तो धर्म मान लिया और यहां से बाहर निकले तो फिर पाप में रत हो गये। तो, मन्दिरों और धर्म स्थानकों की भूमि को छोड़कर क्या समूचे भूमितल पर पाप ही पाप भरा है? और अगर ऐसा है, दुनिया के लोग इस क़दर पाप मे लिप्त हो चुके हैं तो यह स्थिति तो असहनीय हो गई है। अधिक दिनों तक यह नहीं ठहर सकेगी। तो, इसे बदल डालिये। अगर इसे आपने नहीं बदला तो प्रकृति इसे बदल डालेगी—विनाश के मुख में संसार को झोंक कर। मगर उससे आपको क्या लाभ होगा? प्रकृति के इस कृत्य से आपकी आत्मा का उद्धार तो होगा नहीं—इसलिए उचित यही है कि आप ही इसे बदल डालिए। आप ही अपने आचरण में अपने पवित्रम विचारों को जगा लीजिए

जिज्ञासु-रूप में मुझे भारत के कई धर्मों के दर्शन का अभ्यास करने का मौक़ा मिला है—और अपने उस अभ्यास के आधार पर मैं यह स्पष्ट भाषा में आपसे कह सकता हूँ कि धर्म मन्दिर और स्थानकों में ही केवल नही है; बल्कि वह प्रत्येक स्थान पर है। जहाँ भी कहीं आपकी आत्मा विराजती है, आपका धर्म वहीं पर विद्यमान है। और जहाँ भी आपका कर्तव्य अपने खेल खेलता है, वहीं आपका शास्त्र विराजमान है। घर पर, दूकान

पर जहाँ भी आप अपने दैनिक कर्म करते हैं, आपका धर्म और आपके शास्त्र आपके सम्मुख खड़े हैं; मगर क्योंकि उन स्थानों पर आप उनको भूल जाते हैं, इसलिए वे आपको दिखलाई नहीं देते। काश, आप उनको देखने लगें तो फिर तो आपको सभी स्थानों पर जीवन का प्रकाश देखने को मिलेगा। आपका जीवन भी इतना प्रकाशवान् हो जायेगा कि आपको देखकर, आपकी वाणी सुनकर कोई भी कह सकेगा कि आपके रूप में तो सार्वभौम रूपिणी भारतीय संस्कृति के दर्शन हो रहे हैं। आपके वेश में तो परम् पवित्र भारतीय संस्कृति हमारे सामने खड़ी है।

मगर इसके विपरीत आज तो सभी जगह पर कपड़ों की सभ्यता दिखलाई देती है। अमुक प्रकार की वेश-भूषा है और सिर पर नाव की सी शक्ल की सफेद टोपी पहिन रक्खी है—जहाँ आपके सम्मुख यह विवरण आया और आपने अन्दाज लगा लिया कि यह कोई राष्ट्रीय चेतना-सम्पन्न व्यक्ति है। तो, आज तो इस कपड़े की सभ्यता के पीछे इन्सान की सभ्यता—इन्सानियत छिप-सी गई है। तो, इन्सान के लिए यह कोई गौरव की बात नहीं है। उसका अपना गौरव तो उसकी अपनी सभ्यता में ही है। और उसका रूप, उसका गौरव कितना महान् है—यह महाभारत के वर्णन में हमें स्पष्ट लक्षित होता है। स्पष्ट दीख पड़ता है—

महाभारत नामक युद्ध कोई छोटा-मोटा युद्ध नहीं था। बहुत बड़ा और महा विकट! मगर वह इन्सानों की लड़ाई थी,

भारतवर्ष के वीरों का युद्ध ! उस भूमि में भी उन्होंने इन्सानियत को न छोड़ा। सूर्योदय के समय वे वीर एक-दूसरे के ख़ून के प्यासे बन जाते; मगर सूर्यास्त के होते ही वे भाई की तरह परस्पर एक-दूसरे से गले मिलते। साथ-साथ बैठकर भोजन करते और एक दूसरे के ख़ेमे में जाकर वार्तालाप करते। क्या मजाल कि कोई किसी की ओर ज़रासी भी आँख टेढ़ी करे। कोई किसी को हानि पहुँचाये। तो, जैसे उनके विचार थे, वैसा ही उनका आचरण भी ! और इसी का नाम भारतीय संस्कृति है। इसी को भारतीय सभ्यता कहते हैं। और यह है, इन्सानियत—इन्सान की सबसे बड़ी ख़ूबी !

मगर आजकल तो कपड़ों और व्यक्तिगत विचारों की सभ्यता चल पड़ी है। स्वार्थ, लोभ, मोह के वशीभूत हुआ जो कोई भी जो कुछ चाहता है, वह मनमाने ढँग पर उसी काम को करता है—पशुबल और धन-बल के सहारे। और राज्य का क़ानून भी उसी की सहायता करता है। वास्तव में, देखा जाये तो आजकल का क़ानून न्याय-संगत बात की रक्षा बहुत कम और अन्याय-पूर्ण कार्यों की रक्षा बहुत अंशों में करता है। आप रोज़ ही देखते हैं, पैसे के बल पर लोग फाँसी के तख्ते पर से लौट आते हैं। झूँठी गवाहियों पर आधारित है, आजकल का क़ानून ! इसीलिए जिसके मन में जो कुछ भी आता है, वह वही कर डालता है और दंड का भागी होने से फिर भी बच जाता है। तो, ऐसे क़ानून की छाया में धर्म या न्याय की रक्षा किस प्रकार हो-सकती है—

और होती भी नहीं है। हम सब रोज ही देखते हैं। और यह भी एक कारण है, जिससे इन्सान में से उसकी सामूहिक रूप से सोचने की अच्छी आदत निकलकर दूर भाग गई है और अब उसके मन मे व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना ने अपना घर बना लिया है। इसीलिए आजकल जो जितना चालाक है और दूसरों को लूटकर अपना घर भर लेता है, अपने घर में लक्ष्मी के ढेर लगा लेता है, वह उतना ही बड़ा, समझदार और ईमानदार आदमी है, मगर इसके विपरीत जो अपने व्यक्तिगत् स्वार्थ में न फँसकर, परमार्थ की भावना को अपने मन में सदैव जगाये रखने की कोशिश करता रहता है, उसे आज दुनियां वाले मूर्ख, निकम्मा और बेईमान कहते हैं—और इस प्रकार उसे मिटा डालने की कोशिश करते हैं। तो, ऐसी दुनियाँ तो अधिक दिनों तक न ठहर सकेगी।

एक स्थान पर एक भाई हैं, बड़े प्रेमी। युद्ध शुरू होने से पहिले वह ग़रीब थे—तो, सब भाई साथ-साथ रहते और एक ही चूल्हे पर बनी रोटियाँ साथ साथ बैठकर खाते। परस्पर बहुत ही प्रेम और स्नेह के साथ रहते। युद्धकाल आया तो उस भाई ने इधर-उधर हाथ-पैर मारे। आजकल की चतुराई से काम लिया-तो, पैसा भी काफ़ी कमाया। ख़ूब धन इकट्ठा किया। और धन ने घर में आते ही भाइयों के बीच कलह उत्पन्न कर दी। उस भाई के मन में विचार आया—मैं तो कमाता हूँ और ये सब मेरे पैसे के बल पर ही ख़ूब अच्छा खाते हैं—तो मेरा पैसा ख़र्च होता

है। मैं अपना पैसा इन सबके लिए क्यों ख़र्च करूँ ? और अपने मन के इस प्रश्न के समाधान के लिए वह अपने ही भाइयों से अलग हो गया।

कुछ ही दिनों बाद विहार करता हुआ मैं भी उस ओर जा-पहुँचा—तो, वह दर्शन करने मेरे पास आया, अपनी मोटर में बैठकर। बातें हुईं तो सब हाल मालूम हुआ। घर की गड़बड़ के बारे में भी पता चला। और मैं सोचने लगा—एक दिन वह था, जब सब भाई मिलजुल कर रहते थे। रूखा-सूखा, प्रेम के साथ, सब मिल-बैठ कर खाते थे; किन्तु जब खिलाने का समय आया और दूसरे को बाँटने का समय आया तो उस पर साँप बनकर बैठ गये और कहते हैं कि यह मेरा पैसा है, मैं इसे परिवार में कैसे बाँट दूँ ! एक दिन वह था, जब यही भाई विश्व-मैत्री की बात किया करते थे और एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय को भी कष्ट न देने की बात कहा करते थे और प्रतिक्रमण करते समय एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की वेदना जिनके दिल को व्याकुल कर दिया करती थी, अब वही भाई कह रहे हैं, यह पैसा मैंने कमाया है, यह धन मेरा है, मैं परिवार के लिए क्यों ख़र्च करूँ ? यद्यपि बूढ़े मा-बाप हैं, छोटे भाई बहिन हैं और उन सब का निर्वाह करना इनका फ़र्ज़ है ; मगर धन की चकाचौंध में अपने उस कर्त्तव्य को यह बिलकुल भूल गये। तो, ज़रा सोचिये—ऐसे व्यक्ति एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय के महत्त्व को क्या जाने। जब थोड़ी-सी दौलत उनको कर्त्तव्य-च्युत और

पथ-भ्रष्ट कर सकती है—तो उनका जीवन फिर किस प्रकार ऊँचा उठ सकता है। जब उनके जीवन की सात्विक धाराएँ ही सूख जायेंगी तो जीवन को प्रगति के पथ पर फिर वे ले ही किस प्रकार जा सकते हैं। धर्म-शास्त्र उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा देते रहें और गुरुजन भी अपनी वाणी से उनमें स्फूर्ति भरते रहे; मगर वह तो धन रूपी ताँगे के ऐसे अड़ियल टट्टू बन कर रह गये हैं कि आगे सरकना तो वह अब बिल्कुल भूल गये। तो, धर्म-शास्त्रों के द्वारा मनुष्य के मन को विशाल बनाने के लिए झटका तो दिया जा रहा है; मगर स्वार्थ, लोभ, मोह आदि विकारों में वह इस तरह जकड़ गया है कि वह आगे बढ़ ही नहीं पाता। आगे बढ़ने की चेष्टा भी नहीं करता।

तो, आचार-सम्पन्न पुराने युग की याद आ-जाती है। उस समय के भारतीयों ने साधारण से साधारण प्राणियों को तो मान दिया ही था; मगर वे भूमि और वृक्षों तक का सम्मान करना नहीं भूले थे। आप अपने जोधपुर के महाराज यशवन्त सिंह जी की ही बात ले लीजिए। एक बार जब वह युद्ध की इच्छा से क़ाबुल की ओर जा रहे थे—तो, मार्ग में, एक टीले पर लहर-लहर कर लहराते हुए फोग के वृक्ष को देख कर, प्रसन्नता से फूल उठे थे—और उस वृक्ष को आलिङ्गन में कस कर तो उन्होंने बहुत ही भाव-भरे शब्दों में उससे कहा था—'हे फोग! मैं तो दिल्लीश्वर की आज्ञा से इस ओर चला आया हूँ; किन्तु तुम यहाँ पर किस लिए आ गये हो?'

हो-सकता है, उस समय महाराज का हृदय गहरी भावुकता के कारण उमड़ पड़ा हो—मगर इस घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीयों की ऐसी ही संस्कृति रही है। सभी के प्रति उनकी ऐसी ही भावनायें रही हैं। प्रेम के क्षेत्र में उन्होंने वृक्ष और पत्थरों तक को भी नगण्य नहीं माना है। उनके प्रेम की वाणी की झंकार सभी ओर सुनाई देती रही है। मगर आज, आज तो भाई, सगे-भाई का गला काट रहा है, उसके सम्मुख फिर नाते-रिश्तेदारों और अन्य लोगों की तो बात ही क्या है! इसीलिए आज सरस्वती के स्वर में गुंजायमान रहने वाले भारत में करोड़ों भारतीय अशिक्षित हैं। धन-धान्य से पूर्ण रहने वाले भारतीय आज बेकार और भूखे हैं। पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए अपने बच्चों को बेच डालते हैं। अपनी अनमोल जिन्दगी के ५०-६० वर्ष यूँही समाप्त कर देते हैं। तो, जिनकी आज ऐसी दशा है, वे धार्मिक विचार, राष्ट्रीय चेतना और ऊँचे संकल्पों का किस प्रकार पालन कर सकते हैं—तो, साधन-सम्पन्न भाइयों को इस ओर ध्यान देकर अपने परिवार, पड़ौसी, नगरवासी और राष्ट्र के लोगों की दशा सुधार कर उनको जीवन की महत्ता की ओर अग्रसर करना चाहिए।

आज जब देश में बेकारी और भूख का ताण्डव-नृत्य हो रहा है—तो, ऐसे समय में अगर कोई हिमालय की कन्दरा में बैठ कर गाये—उस पुराने गान को—जिसमें कहा गया है कि

भारतभूमि को धन्य है, जहाँ दूध और घो की नदियाँ बहती हैं। जहाँ जन्म लेने पर आत्मा परमात्मा के स्वरूप में लीन हो जाती है। जहाँ जन्म लेने के लिए देवता अपने स्वर्ग और देवत्व को छोड़ देने के लिए तैयार रहते हैं—तो, आज यह कितना निरर्थक आलाप होगा–उसका ! आज यदि देवता अपना स्वर्ग और देवत्व छोड़ कर यहाँ चले आयें—तो, आज वे दुःखी हों। खाने के लिए जब घी के स्थान पर उन्हें वेजीटेबिल मिले, दूध के नाम पर सफ़ेद पानी और अकाल के दिनों में अन्न के स्थान पर वृक्षों की छालें—तो, वे दुखो नहीं होंगे तो और क्या सुखी होंगे ! और जब परमात्वभाव के स्थान पर उन्हें छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष आदि ही भोगने पड़ेंगे—तो, उस समय तो उनके दुःख की सीमा भी न रहेगी।

मैं समझता हूँ, वे दिन धन्य रहे होंगे, जब भारतवर्ष में दूध और घी की नदियाँ बहती होंगी। पौराणिक गाथाओं के अनुसार यहाँ के रहने वालों के पास इन्द्र विमान लेकर आते थे—उसे स्वर्ग में ले जाने के लिए! मगर यहाँ का वह व्यक्ति उत्तर में इन्द्र से कहता था—मैं स्वर्ग में नहीं जाना चाहता, मेरा स्वर्ग तो इसी भूमि पर है। मगर आज तो जैसे ये बातें स्वप्न-सी हो गई हैं। भारतवर्ष के चारों कोनों में भूख ही भूख दिखलाई देती है। और इस भूख से पीड़ित हो कर आज भारतीय कैसे-कैसे जघन्य कार्य कर रहे हैं कि सोचते हुए भी हैरान हो-जाना पड़ता है। भूख की पीड़ा से कराह कर अपने बच्चों को मां-बाप

दो-दो रुपयों में बेच डालते हैं। माताएँ और बहिनें अपनी अमूल्य निधि सतीत्व को कौड़ियों में यूँ ही लुटा देती हैं। अन्धविश्वासों में फँस कर आज प्रत्येक भारतीय का मन और मस्तिष्क धुँधला हो गया है। आज के धर्मगुरु भी सच्चे धर्म को छोड़ कर इन अन्ध-विश्वासों के ही गीत अलापते है। कहते हैं, इन्हें बना रहने दो, इन्हें मत छेड़ो, नहीं तो अनर्थ हो जायेगा। तो, यह गढ़हे में गिर जाने के बराबर है। भगवान् महावीर, बुद्ध और कृष्ण जीवन-पर्यन्त इन बुराइयों से लड़े। उन्होंने प्रत्येक जीवन की प्रत्येक बुराई को निकाल कर फेंकने का सफल प्रयत्न किया तो भारतीय जीवन में जीवन की ज्योति जली; मगर आजकल के धर्म-गुरु उन बुराइयों को क़ायम रखना चाहते है। यह कैसी बात है ?

मैं कह रहा हूँ। जब तक राष्ट्र इन बुराइयो से टक्कर नहीं लेगा—तब तक उसके अन्दर नई चेतना और नई जागृति नहीं होगी। नई जागृति नहीं होगी तो भारतवर्ष की महान् संस्कृति भी तब तक अपना जीवन अन्धेरे में ही गुजारेगी। तो, आज संसार में जितने भी 'वाद' उठ खड़े हुए हैं, वे परस्पर बराबर लड़ते रहेंगे।

जब मैं चित्तौड़ में आया तो मालूम हुआ कि वहाँ पर सर्व-धर्म-सम्मेलन हो रहा है। उस सम्मेलन के कार्यकर्त्ता मेरे पास भी आये और मुझे भी वहाँ ले गये। निर्णायक के आसन पर मुझे वहाँ बिठा दिया गया। मैंने वहाँ पर देखा—परस्पर लड़ने के लिए वहाँ अनेक दल मौजूद थे। सम्मेलन का वह स्थान एक

अच्छा-खासा द्वन्द-युद्ध का अखाड़ा वना हुआ था। और फिर वे सभी दल आपस में लड़े भी ! अपनी संस्कृति के महान आदर्शों की उन्होंने चर्चा भी न की; इसके विपरीत उनमें से प्रत्येक यह कह कर कि 'हम यह कर सकते हैं, हम वह कर सकते हैं', चुप होता चला गया। परस्पर उनमें चख़-चख़ भी ख़ूब हुई। तो, उन सब के इस कथन के उपसंहार के रूप में मैंने उनसे कहा—किसी व्यक्ति का मकान जल रहा है और आ जाँय वहाँ पर कई टोलियाँ! और एक टोली उनमें से कहे—इस आग को बुझाने की मेरे पास बहुत अच्छी तरकीब है। तो, इस बात को सुन कर दूसरी टोली कहे—यह आग तो मैं ही बुझा सकती हूँ—और किसी के वश की यह नहीं है। और सभी टोलियाँ इसी प्रकार कहती रहें—और कहती-कहती फिर लड़ भी पड़ें—तो, इस तरह आग तो बुझेगी नहीं। इस तरह तो उस बेचारे का घर जल कर राख का ढेर बन जायेगा।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति बीमार हो और दर्द से कराह रहा हो—डॉक्टर, वैद्य, हकीम और होम्योपैथिस्ट सभी उसे घेरे खड़े हुए हों; मगर उसको दवा देने के बजाय वे पहिले यह निर्णय करने पर तुल जाँय कि हम में से कौन इस मर्ज़ को ठीक समझता है या हम में से किसके पास इस मर्ज़ की ठीक दवा है तो वह व्यक्ति तो बेचारा ढेर ही हो जाय। तो, ऐसी बुद्धि पर मुझे तो तरस आता है।

और आज भारत की ही क्या, अपितु समूचे संसार की यही

समस्या है। संसार के इस रोग को जड़-मूल से नष्ट कर देने का दावा करने वाले तो अनेक समुदाय हैं; मगर डॉक्टरों की भाँति अभी तक वे परस्पर में ही उलझ रहे हैं और संसार के इस रोग की ओर उनका बिल्कुल भी ध्यान नहीं है। तो ससार दिन-प्रति-दिन अपनी मृत्यु की ओर अग्रसर होरहा है। तो, अपनी इस बात को एक बार मैं फिर कहना चाहता हूँ कि अगर आप लोगों ने इस रोग का स्वयँ ही इलाज न किया—तो, प्रकृति कुपित होकर इसका इलाज स्वयँ कर देगी। हम सब को मिटा डालेगी। हम सबको मिटा डालेगी तो हमारी आत्माएँ फिर भ्रमित अवस्था मे न जाने कहाँ-कहाँ के चक्कर लगाएँगी—कौन-कौन सी योनियों में घूमेंगी—तो, मनुष्य-शरीर धारण करने पर भी अगर परमात्म-भाव में लीन न हो सके—तो, इस बुद्धि-सम्पन्न योनि को प्राप्त करने पर भी हमने क्या किया? कुछ भी तो नहीं।

आये दिनों हम देखते हैं, भारत के रोग का निदान करने के लिए, कोई न कोई नई पार्टी अस्तित्व में आ-जाती है और अन्य पार्टियों के समान फिर वह पार्टी भी यही दावा करती है कि तुम सब इस रोग के विषय में कुछ भी नहीं जानते। जहाँ हमारे हाथों में देश की सत्ता आई नहीं कि सबको रोटी-रोजी मिली नहीं। तुम कुर्सियाँ छोड़ो और इन कुर्सियों पर हमें बैठने दो। तो, इसके उत्तर में सत्तारूढ़ पार्टी कहती है; तुम इन कुर्सियों पर बैठने योग्य ही नहीं हो। हमारा ही दल केवल ऐसा

है, जो भारत की रोज़ी-रोटी की समस्या को हल कर सकता है। मगर दिन-पर-दिन बिगड़ती जाने वाली देश की दशा हमें यह स्पष्ट बतलाती है कि देश में समाजवादी, साम्यवादी, जन-संघ आदि जितनी भी पार्टियाँ हैं, आग बुझाने वाली उन पार्टियों के समान अभी वे परस्पर ही जूझ रही हैं और देश की समस्याओं को हल करने की ओर किसी पार्टी ने भी ध्यान नहीं दिया है—तो, उस घर के समान ही देश भी धीरे-धीरे राख का एक ढेर बनता चला जा-रहा है।

मैं समझ नहीं पाता कि क्या सत्तारूढ़ होने पर ही देश की समस्याओं का हल किया जा-सकता है—या कहीं भी किसी भी कार्य-क्षेत्र में जुट पड़ने पर देश की दशा को सुधारा जा-सकता है—आज देश के कोने-कोने में समस्याएँ दिखलाई देती हैं। पण्डित नेहरू तो इस बात को अलंकारिक भाषा में कहा करते हैं—वह कहा करते हैं—'भारतवर्ष की ३५ करोड़ की आबादी है और उसकी ३५ करोड़ ही समस्याएँ हैं।' तो, मुझे उनके इस कथन में कोई भी अतिशयोक्ति नहीं मालूम पड़ती। आज वास्तव में, भारतीयों को परिवार, समाज, मोहल्ला और मोहल्ले की प्रत्येक गली की समस्या का हल करना है। तो, जब अनेक उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाना है तो कुर्सियों पर बैठने का क्या इन्तज़ार करना, किसी भी एक गुत्थी को सुलझाने के लिए बैठ जाना चाहिए। वास्तव में, काम करने के इतने मौक़े हैं कि किसी भी कार्य को शुरू किया जा-सकता है।

मनुष्य हड्डियों का ढाँचा और माँस का लोथड़ा-भर नहीं है, उसमे बुद्धि भी है और बल भी—तो, आवश्यकता तो इस बात को है कि वह अपने उस उत्तरदायित्व को समझे, जिसे वह भूल गया है। फिर उसे इस बात की आवश्यकता ही न होगी कि वह कुर्सियों का मोह करे। फिर तो वह देश-भर में सर्वत्र बिखरी पड़ी समस्याओं में से किसी भी समस्या को सुलझाने के लिए बैठ जायेगा। और आज आवश्यकता भी इसी बात की है। अगर भारत को फिर समृद्धशाली, गौरवमय, रोग-शोक से मुक्त और आनन्दमय बनाना चाहते हो तो आचार-हीनता और कर्त्तव्य-विमुखता के कारण जीवन में जो अन्धकार भर गया है, उसे दूर भगाकर वहाँ आत्मा का प्रकाश भरो, तभी, देश का कल्याण हो-सकता है, अन्यथा नहीं। अपने विकारों से निरन्तर लड़ो और जीवन की ज्योति प्राप्त करो। अपका देश जाग उठेगा और उन्नति के पथ पर अग्रसर होगा।

उस समय मुझे बड़ा अचम्भा होता है जब मैं अनेक विद्वानों को यह कहते हुए सुनता हूँ कि मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह पतन की ओर उन्मुख रहता है। जब मै दिल्ली में था, तो प्रवचन करते हुए, एक दिन, एक सन्त ने कहा—'मनुष्य का पतन तो सहज है; मगर उत्थान सहज नहीं है।' और उस सन्त की इस बात को सुनकर मै सोचने लगा—एक दार्शनिक के मुख से ऐसी बात निकलना

शोभनीय नहीं हो सकती। मालूम होता है, उन्होंने गहराई में उतर कर इस बात को नहीं कहा—क्योंकि अगर मनुष्य का स्वभाव गिरावट की ओर ही उन्मुख रहने वाला होता—तो, उपदेश देने की प्रथा का जन्म ही न हुआ होता। शास्त्रों को तैयार करने का प्रश्न ही न आया होता। और अगर प्रथा का जन्म हो भी गया होता—तो, उसे तुरन्त ही यमलोक भी पहुँचा दिया गया होता। शास्त्रों को भी जलाकर भस्म कर दिया गया होता। हज़ारों-लाखों वर्षों के बाद भी आज वे जीवित न होते।

तो, इनका अभी तक जीवित रहना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि मनुष्य-स्वभाव निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होने वाला है। शरीर-पिण्ड को मनुष्य नहीं कहा जाता; किन्तु इस पिण्ड में निवास करने वाली जो चैतन्य आत्मा है, मनुष्य की संज्ञा उसको दी गई है। और इस आत्मा का स्वभाव है कि वह इस शरीर-पिण्ड की सभी बुराइयों से निरन्तर संघर्ष-रत रहती है। मगर जब आत्मा सो जाती है तो वातावरण में विद्यमान रहने वाली बुराइयाँ गड़बड़ उत्पन्न कर देती हैं—ठीक इसी तरह, जिस तरह शेर के सो जाने पर जंगल में गीदड़ों का ऊधम शुरू हो जाता है। मगर जब शेर जग कर गरजता है तो गीदड़ शान्त होकर अपनी-अपनी माँदों में मुँह छिपा लेते हैं—और आत्मा के जाग जाने पर भी गीदड़ रूपी बुराइयाँ दूर भाग जाती हैं। फिर क्रोध, अहंकार, माया, घृणा, द्वेष आदि दोषों का पता भी नहीं चलता—कि वे किधर चले

गये। इन गीदड़ों ने कहाँ जाकर मुँह छिपा लिया।

तो, मै कहता हूँ, मनुष्य का पतन सहज नहीं, उसका उत्थान सहज है। इसलिए जीवन के पथ पर एक सिपाही की भाँति आगे बढ़ो। अपने विचारों का सीधा सम्बन्ध अपने आचार से करो। विचारों के अनुरूप अपने आचरण को भी बनाओ। वास्तव में, तुम्हारा, तुम्हारे परिवार का, समाज, राष्ट्र और समूचे मानव-समाज का कल्याण इसी मूल-भूत विचार-धारा में निहित है।

जोधपुर
१६-८-५३

आत्मा को भी ग्रहण लगा है

आज आषाढ़ मास की पूर्णिमा है और आज से ही चातुर्मास प्रारम्भ हो रहा है। तो, जो भी मुनि आज आपके पास हैं, वे अब वर्षा के चार मास-पर्यन्त आपके नगर जोधपुर में ही निवास कर प्रतिदिन ज्ञान-चर्चा करेंगे। तो, यह अब आप पर निर्भर है कि अपने नगर जोधपुर के भव्य प्रांगण में बैठे हुये इस मुनि-मण्डल की ज्ञान-चर्चा से आप कितना लाभ उठाते हैं। अपने जीवन के कल्याण और मंगल के लिए इन दिनों आप, जीवन-भर पालन के हेतु, कौन सी व्रत-धारा को ग्रहण करते हैं और अपने पिण्ड के कौन से दोष का निवारण कर, स्वभाव से ही सत्-चित् और आनन्दमयी आत्मा की कलुषता को धो-डालते हैं। उस पर चढ़े मैल के आवरण को हटा कर दूर कर देते हैं।

और इस प्रकार अपनी आत्मा के वास्तविक रूप को अपने सामने ले-आते हैं।

आप लोगों को यह तो ज्ञात ही होगा कि आज रात्रि को आकाश में एक ग्रह-योग की घटना घटने वाली है। चन्द्र, जो दृश्यमान् और अदृश्य नक्षत्रों और ग्रहों का राजा माना जाता है, आज वह राहु से ग्रसित होगा। तो, आज के पूर्णचन्द्र का देदिप्यामान प्रकाश कतिपय क्षणो के लिए फीका तथा मन्द पड़ जायेगा। उसका वास्तविक रूप हमारे नेत्रों से ओझल हो जायेगा। और आज हज़ारों, लाखों और करोड़ों प्राणी इस दृश्य को देखेंगे—तो, आज हज़ारों भक्त माला फेरेंगे, हज़ारों दानी दान करेंगे और हज़ारों पुण्यात्मा पुण्य करेंगे। और यह सब किसलिए—अगर आप अपने इस प्रश्न का उत्तर किसी भक्त, किसी दानी अथवा किसी पुण्यात्मा से पूछेंगे—तो, प्रत्येक उनमें से केवल यही एक बात कहेगा—कि चन्द्र की मुक्ति के लिए ! राहु की पकड़ से चन्द्रमा को छुटकारा मिले—इसलिए ! चन्द्रमा का दुःख दूर हो—इस लिए ! तो, उन सभी के इस उत्तर मे केवल एक ही भावना निहित होगी—कि चन्द्रमा एक बार फिर, शीघ्रातिशीघ्र अपने वास्तविक रूप में, हमारे नेत्रों के सम्मुख चमचमकर चमकने लगे।

ग्रहण क्या है ? यह एक लम्बा तथा विवाद-ग्रस्त प्रश्न है। मगर भाव-परायण लोग हज़ारों वर्षों से सूर्य, चन्द्र और राहु के इस खेल को देख-देख कर अपने हृदय में दया की जिस पुनीत भावना को पालते चले आ रहे हैं, यहाँ पर केवल उनकी उसी

भावना के व्यवहारिक रूप का वर्णन किया जा-रहा है। मैं कह रहा था कि उनके हृदय में सूर्य और चन्द्र की मुक्ति के लिए एक प्रबल भावना अपना कार्य करती है और अपनी उस भावना को व्यवहारिक रूप देने के लिए वे माला फेरते हैं, दान देते हैं और पुण्य करते हैं। इस रूप में सूर्य और चन्द्र की मुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं।

तो, लाखों-करोड़ों मनुष्यों की इस दया-भावना को देख-देख कर कभी-कभी मेरे मन में एक प्रश्न उठा करता है कि करोड़ों मील की दूरी पर स्थित सूर्य और चन्द्र की मुक्ति के लिए जब मनुष्य यहाँ पृथ्वीतल पर बैठकर दया की भावना अपने मन में जगाता है और तुरन्त ही अपनी उस भावना को माला फेरकर, दान और पुण्य करके व्यवहारिक रूप में भी परिणित कर देता है—तो, वही मनुष्य अपनी इस आत्मा को, जो सूर्य और चन्द्र से भी अधिक महान् है, जिसके समुज्ज्वल प्रकाश में कोटि-कोटि सूर्य और अरब-खरब चन्द्र भी निस्तेज हो-सकते हैं और जो उसके इतने नजदीक है कि उसके पिण्ड में ही निवास करती है, मुक्त करने का प्रयत्न क्यों नहीं करता ? क्या आपके मानस मे कभी इस चिन्तन ने भी जन्म लिया है कि इस देवों के भी देव और इन्द्रों के भी इन्द्र आत्मा को अनन्त-अनन्त काल से ग्रहण लगा है। मुमकिन है, मेरी इस बात को सुनकर, शायद आज ही और अभी-अभी आप का ध्यान इस ओर गया हो और आपका मस्तिष्क आपसे कह रहा हो—नहीं तो ! तो, मैं कहना चाहता हूँ कि आपकी दूर की

बीनाई तो ठीक है, पर नजदीक की आपकी बीनाई कमज़ोर है। यही कारण है, जो आप लाखों योजन दूर पर होने वाले सूर्य और चन्द्र के ग्रहण को तो अनुभव कर लेते हैं; मगर अपने ही अन्दर लगने वाले आत्मा के ग्रहण का अनुभव नहीं कर पाते। तो, जीवन की इससे अधिक विडम्बना और हो भी क्या सकती है—कि आज का कषाय-कलुषित मन वाला मानव दूरतरवर्ती सम्प्रदाय एवं पंथ की बुराइयों को तो भलीभाँति देख सकता है, पर उसे अपने ही घर में होने वाली गड़बड़ी नहीं दिखलाई देती है, नहीं सुनाई पड़ती है। तो, मैं समझता हूँ, आज के जन-समाज की यह एक ज्वलंत समस्या है, जिसका हल आज के जन-नायकों को करना ही होगा। आज के जन-नायकों का यह परम-पवित्र कर्त्तव्य है कि वे अपनी पास की दृष्टि को भी उतनी ही साफ और सुथरी रक्खें, जितनी साफ़-सुथरी वे अपनी दूर की दृष्टि को रखते हैं।

हाँ, तो मैं आप से आत्मा में लगे हुए ग्रहण की बात कह रहा था। आप में अनेक अधेड़ उम्र के हैं और अनेक वृद्ध। तो, मैं कह सकता हूँ कि अब तक आप अपने जीवन के चालीस-पचास और साठ वसन्त देख चुके हैं। इस बीच में अपने बचपन को जवानी में और जवानी को बुढ़ापे में बदलते हुए भी आपने देखा है—और अब आप जीवन की उस मन्ज़िल पर आ-पहुँचे हैं, जहाँ अपने इस शरीर को त्यागने के लिए आपको तैयार रहना है। आपके चेहरों पर झुर्रियाँ पड़नी शुरू हो गई हैं, आप

के सिर के अनेक बाल सफेद हो गये हैं—और मैं आप पर सवार बुढ़ापे को स्पष्ट देख रहा हूँ। उस बुढ़ापे को मैं भली-भाँति देख-पारहा हूँ, जो एक दिन आपके इस पिण्ड को समूचा निगल जाएगा। तो, मैं आपसे पूछना चाहता हूँ—क्या आपने कभी भी अपने जीवन के इन पचास साठ वर्षों के दौरान में आत्मा में लगे ग्रहण के सम्बन्ध में सोचा है? इस ग्रहण से आपकी आत्मा किस तरह मुक्त हो, इस अपार कष्ट से उसे किस प्रकार छुटकारा मिले—क्या इस उपाय को खोजने में कभी आपने अपनी बुद्धि से काम लिया है? इस प्रकार का कोई प्रयत्न किया है? क्या आपके मन में कभी अपनी आत्मा की मुक्ति के हेतु भी दया का भाव आया है? और मैं देख रहा हूँ कि मेरे इस प्रश्न के उत्तर में आप बिल्कुल मौन होकर बैठे हैं—तो, मैं समझता हूँ कि आपने इस गम्भीर प्रश्न पर कभी भी विचार नहीं किया है। इस सम्बन्ध में सोचने का कभी भी कष्ट नहीं उठाया है।

जैन-दर्शन कहता है—आत्मा को कर्म का राहु लगा है। वेदान्त कहता है—आत्मा को माया का राहु लगा है और बौद्ध-दर्शन कहता है कि आत्मा को वासना का राहु लगा है। और इस कथन का अर्थ है कि राहु लगने की सत्यता को सभी स्वीकार करते हैं—अन्तर है केवल परिभाषा और शब्दों का! तो, आचार्य शंकर के कथनानुसार हमें भी शब्दों के बीहड़-वन में नहीं भटकना है। आचार्य शंकर का कथन है—'शब्द-जालं

महारण्य चित्त भ्रमण कारणम्।' तो, हमें भी शब्दों के इस जंगल को छोड़ कर सरल मार्ग से ही अपनी यात्रा तय करनी चाहिए। और सरल मार्ग का अर्थ है कि हम जीवन के मूल-भूत सिद्धान्तों को समझने का प्रयत्न करें। जीवन की वास्तविकता और सत्यता का अंकन करें।

आपने कभी भी आत्मा के राहु से युद्ध नहीं किया है—इसीलिये आप अभी तक अन्तर्जगत् के युद्ध में विजेता नहीं बन सके हैं। विजेता नहीं बन सके हैं तो आत्म-दर्शन भी नहीं कर सके हैं। और जब आप अभी तक आत्म-दर्शन नहीं कर सके हैं तो विश्व-दर्शन भी नहीं कर सके हैं। इस सम्बन्ध में जैन-दर्शन का कथन है—'जे एगं जाणई, से सव्वं जाणइ।' जिसने एक को जाना, उसने सबको जान लिया। जिसने एक का दर्शन कर लिया, उसने सब का दर्शन कर लिया, उसने समूचे विश्व का दर्शन कर लिया। मगर इस एक के सम्बन्ध में वैदिक परम्परा के एक ऋषि ने बहुत ही गम्भीर प्रश्न किया है—'कस्मिन विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति ?' अर्थात् किस एक के जान लेने पर सबको जाना जा-सकता है ? तो, प्रश्न जितना गम्भीर है, उत्तर भी उतना ही तल-स्पर्शी है। और इस प्रश्न का उत्तर है—वह एक है, आत्म-तत्त्व ! और इस आत्म-तत्त्व को वही जान सकता है, जो आत्मा के राहु से युद्ध कर उस पर विजय प्राप्त कर सकता है। जो, अन्तर्जगत् के युद्ध में विजेता बन सकता है।

भगवान् महावीर ने कहा है—आत्मा का राहु है, कर्म !

और कर्म का कारण है, मिथ्यात्व! मिथ्यात्व ही आत्मा को नहीं चमकने देता है। जिस प्रकार गहरी और घनघोर घटाएँ, सूर्य के प्रकाश को, अपने आवरण में ढक लेती हैं, उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश को यह मिथ्यात्व निगल जाता है। यही कारण है जो मिथ्यात्व को संसार में सर्वाधिक भयंकर पाप माना गया है। संसार में जितने भी सम्प्रदाय हैं, पंथ, दल और पार्टी है, उनसे हमारा कोई संघर्ष नहीं है। वास्तव में, हमारा संघर्ष तो मिथ्यात्व से है, तद्‌गत् भ्रान्त धारणाओं से है। इसलिए जहाँ-जहाँ भी मिथ्यात्व मौजूद है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र साधक के लिये मोर्चा है। दरअसल, प्रत्येक साधक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह असत्य से लड़े, मिथ्यात्व से मोर्चा ले। उससे जूझ पड़े।

आज के सम्प्रदायवादी लोगों ने अखण्ड सत्य के भी टुकड़े-टुकड़े कर उसे अनेक भागों में विभाजित कर दिया है। और इस प्रकार उसे बहुत ही छोटा बना डाला है। फिर, सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि उसके किसी भी छोटे टुकड़े को अखण्ड एवं पूर्ण सत्य मानकर अड़ियल टट्टू की भाँति उसी पर अड़ कर बैठ जाते हैं। वे कहते हैं—जो कुछ हम कहते हैं, जो कुछ हम करते हैं, बस, वही सब सत्य है। हमारे गुरु जो-कुछ भी करते हैं, जो-कुछ भी कहते हैं, वही धर्म है, वही करने योग्य है। वही सब हम करते हैं। इसीलिए सत्य के नाम पर आज अनेक धर्म-ग्रन्थों में मिथ्यात्व और असत्य

का पोषण किया जाने लगा है। आज का अनुयायी-वर्ग और उसका नेता-वर्ग इसी ग़लत परम्परा का शिकार हो गया है, जिससे आज संसार में सभी ओर असत्य का ही बोलवाला सुनाई देता है। सभी वर्गों और पंथों में यही विचार-धारा ज़ोर पकड़ गई—जिससे गुड़-गोबर एक हो गया है और मानव-समाज एक ग़लत रास्ते पर चल पड़ा है। तो, जब उसने असत्य को ही सत्य मान लिया है, असत्य को ही सत्य का जामा पहिना लिया है—तो, ऐसी दशा में आत्म-कल्याण की बात सोचना तो निरी मूर्खता है। अक़्ल का दिवालियापन है।

तो, मैं आप लोगों से कहना चाहता हूँ कि इन पंथों को दूर फेंक दो, इन सम्प्रदायों को दूर हटा दो। सम्प्रदाय और पंथ आपके द्वारा बनाये गए हैं, आप इन्हें मिटा भी सकते हैं। आपकी इच्छा से ये एक दिन जन्म लेते हैं—तो, इनके जन्म-दिवस पर मंगल-गीत गाये जाते हैं; मगर एक दिन जब ये मर जाते हैं—तो, इनके लिए कोई रोने वाला भी मयस्सर नहीं होता। इनकी कब्रों पर कोई मर्सिया पढ़ने वाला भी पैदा नहीं होता। परन्तु इसके विपरीत सत्य न कभी जन्म लेता है और न कभी वह मरता ही है। वह तो अनादि और अनन्त है। तो, मानव जब तक सत्य को सत्य के रूप में स्वीकार नहीं करेगा, तब तक वह अपने राहु के चंगुल से कैसे छूट सकेगा। आत्म-कल्याण कैसे कर सकेगा।

मैं इन लोगों को, जो सत्य के मार्ग में चट्टान बन कर अड़े

हैं और सत्य का समाच्छादन करके अपने स्वार्थों का प्रचार कर रहे हैं, सचेत कर देना चाहता हूँ कि वे इस तरह संसार को अधिक दिनों तक धोका नहीं दे-सकेंगे। इसीलिए मैं आपसे फिर कहता हूँ कि आप किसी भी पंथ में रहें, किसी भी गुरु की माला फेरें और किसी भी सम्प्रदाय के नियमों का पालन करें; मगर आप इन पंथों तथा सम्प्रदायों की दम घोटने वाली दीवारों से अपनी गर्दन को जरा ऊपर उठाकर बाहर के स्वच्छ और उन्मुक्त वातावरण में भी अपनी साँस लें। आप विश्वास कीजिए, इन पन्थों और सम्प्रदायों के बाहर का इठलाता हुआ पवन और पवित्र प्रकाश आपके दिल और दिमाग़ को पाक-साफ़ कर देगा। आपकी रुह को ताज़गी देगा—और इस प्रकार जब आप, ज्ञान की प्रखर किरण को हाथ में लेकर, मिथ्यात्व के विपरीत आगे बढ़ेंगे—तो, आप उस पर निश्चय ही विजय प्राप्त करेंगे—और अन्त में आत्म-दर्शन कर लेंगे—तो, विश्व-दर्शन भी! मगर इससे पूर्व आपको यह भली-भाँति समझ लेना है कि सत्य इन पन्थ और सम्प्रदायों की दीवारों में ही बन्द नहीं है। यदि आप सत्य के गवेषक हैं, सत्य का अनुसन्धान करना चाहते हैं, सत्य का पता लगाना चाहते हैं—तो, आप को पंथों तथा सम्प्रदायों के संघर्षों तथा झगड़ों से ऊपर उठना होगा—तभी, आप अखण्ड सत्य का पता पा-सकेंगे। तभी, आप उसकी अर्चना या उपासना कर सकेंगे।

ज़रा सोचिये—जब सत्य हिमालय की गगन-चुम्बी चोटियों से भी अधिक ऊँचा है, समुद्र से भी अधिक गहरा है तथा आकाश से भी अधिक विस्तृत है—तो, ऐसा सत्य पंथों या सम्प्रदायों की क्षुद्र दीवारों में किस प्रकार बन्द हो सकता है! और आज तक वह हो भी नहीं सका है। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि अखंड सत्य को खोज-निकालने के लिए आवश्यक है कि आप इन पंथों और सम्प्रदायों की इस घेरे-बंदी को लाँघ कर इस के बाहर आ जाँय। अखण्ड सत्य का उपासक ही मिथ्यात्व के घेरे को तोड़ सकता है, उसे छिन्न-भिन्न कर सकता है और उसके अंधकार को नष्ट कर सकता है। और ऐसे उस सत्य के उपासक का केवल एक ही नारा होता है—'यत सत्यं तन्मय।' जो सत्य है, वह मेरा है। फिर, भले ही वह सत्य चाहे मेरा हो, चाहे दूसरे का हो, मेरे गुरू का हो, चाहे किसी अन्य के गुरू का हो, मेरे पड़ौसी का हो, मेरे देश का हो, चाहे किसी अन्य देश का हो, वह मेरा ही है। वह सत्य कहीं पर भी हो, किसी भी रूप में हो, उस पर मेरा अधिकार है। वह मेरा है। मैं उस सत्य का उपासक हूँ। मैं उसका पुजारी हूँ।

मगर इस सम्बन्ध में एक सम्प्रदाय या एक पंथ की बोली सर्वथा भिन्न होती है, बिल्कुल अलग होती है। वह इस बात को अपनी बोली, अपनी भाषा में यों कहता है—'यन्मम तत् सत्यम्।' जो मेरा है, मेरे गुरू का है, वही सत्य है। और इस प्रकार पंथ या सम्प्रदाय अखंड सत्य के भी टुकड़े-टुकड़े कर देता है। उसे

छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देता है। उस अखंड को खंड-खंड कर देता है।

भारत का पतन क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जाता है। कतिपय विचारक कहलाने का ढोंग रचने वाले व्यक्तियों का कहना है कि भारत का पतन जैनों की अहिंसा के प्रचार के कारण हुआ है। मैं कहता हूँ, उनका यह विचार सर्वथा ग़लत है। अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं, वीरता है। वास्तव में, भारतवर्ष का पतन सत्य के टुकड़े-टुकड़े कर देने के कारण हुआ है। जब से पंथ और सम्प्रदायों ने सत्य का ठेका लेना शुरू किया, तभी से भारतवर्ष का पतन प्रारम्भ हुआ—और वह बराबर गिरता ही चला गया। गिरता ही चला गया—तो, आज इस दशा को प्राप्त हो गया। भारतवर्ष के इतिहास में उसके उन महान् दिनों का वर्णन भी लिपिबद्ध हुआ है, जब उसकी शक्ति, संस्कृति और धर्म के पवित्र बोलों से समूचा विश्व निनादित हो-उठा था—फिर, उन दिनों का वर्णन भी मिलता है, जब पंथवादी तथा सम्प्रदायवादी धर्म गुरु भारतीय जनता को विराट् सत्य के नाम पर, अपनी-अपनी संकीर्णता का विष-मिला पानी पिलाने लगे। जनता को अमृत के नाम पर जहर बाँटा जाने लगा। और यह कहकर जनता को विष दिया जाने लगा—'सोचो मत, विचार न करो, तर्क भी नहीं। मैं जो कुछ भी कहता हूँ, उसी पर श्रद्धा लाओ और उसी के अनुसार आचरण भी करो।' तो, इस तरह उन दिनों जनता को अन्धी श्रद्धा का पाठ पढ़ाया गया और धर्म-

गुरुओं ने उसे अँधेरी कोठरियों में रहने का उपदेश या आदेश दिया। अन्ध-विश्वास की रेशमी और मजबूत रस्सियों में उसे बाँधने का प्रयत्न किया—और दुर्भाग्य से वे अपने इस कार्य में सफल भी हुए।

तो, आज भारत के होनहार और विचारशील सपूतों से मैं कहना चाहता हूँ—कि अब समय आ-गया है कि वे मिलकर उन बन्धनों को तोड़कर फैंकें। उन रेशमी और मजबूत रस्सियों के टुकड़े-टुकड़े करदें, जिनसे उन्हें आज तक बाँध रखा गया है। आज प्रत्येक विचारक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह सत्य के नाम पर चलने वाले पाखण्ड, जड़ता और मिथ्यात्व का प्रबल विरोध करे और सत्-धर्म के बाग में उग-आई अन्धी श्रद्धा की घास को उखाड़ फैंके। उसका नामो-निशान मिटा दे। मिथ्यात्व के राहु से छुटकारा पाने का यह सर्व प्रथम और सर्वोत्तम उपाय है कि आज प्रत्येक विचारशील व्यक्ति अपनी बुद्धि को पैनी रक्खे और अपने दिल में पन्थ तथा सम्प्रदाय के आग्रह को तनिक भी स्थान न दे।

दूसरा ग्रहण जो मनुष्य की आत्मा पर लगा है, वह है—परिग्रह का! रोज़ ही देखने में आता है कि मनुष्य अपने लिए सोने के सिंहासनों की फिक्र करता है; मगर उस समय वह यह नहीं सोचता कि इन सिंहासनों के निर्माण करने में उसे कितने दूसरों को वर्बाद करना पड़ता है। कितने दूसरों को मिटाना पड़ता है। 'स्वयं भी जीवित रहो और दूसरों को भी जीवित रहने

दो'—जब उस प्रभु की ओर से सभी को यह अधिकार मिला है—तो, परिग्रह की दुर्भावना से प्रेरित होकर अपने इस अधिकार का दुरुपयोग क्यों ? प्रभु की आज्ञा की अवहेलना क्यों ? और दूसरों को बर्बाद करने, मिटाने का व्यवहार क्यों ? तो, यह तो मानव की अनधिकार चेष्टा है। तो, इस संसार में अगर जीवित रहने के लिए आये हो—तो, शानदार ढंग से जीवित रहो। वेदान्त की भाषा में, ईश्वर के रूप में जीवित रहो। और महावीर की वाणी में, परमात्मा के रूप में जीवित रहो। दूसरों की ज़िन्दगी के साथ खिलवाड़ करके जीवित रहे—तो, यह जीना नहीं है, यह तो मरना है।

जब मनुष्य मूल-रूप में एक होने पर भी परिवार, समाज और राष्ट्र के रूप में लाखों तथा करोड़ों के रूप में है, तो, किसी भी व्यक्ति का फिर केवल अपने लिए ही सोचना, अपने लिए ही कमाना और अपनी ही सुख-सुविधाओं का ध्यान रखना—समाज की चोरी करना है। उसका अपने मानवोचित कर्त्तव्यों से च्युत होना है।

भोग और विलास से परिपूर्ण जीवन की गणना परिग्रह की कोटि में ही की जाती है। कोई सम्पन्न व्यक्ति अपने लिए मोटरकार ख़रीद कर लाता है और उस कार को गैरेज में ही बन्द करके रख देता है—इस भय से कि कहीं कोई व्यक्ति कुचल कर न मर जाये—अथवा यदि उसे चलाता है तो दाएँ-बाएँ देख कर नहीं चलाता, उसके ब्रेकों का इस्तैमाल नहीं करता। तो,

दोनों ही स्थिति ख़राब हैं। कार की उपयोगिता चलने में ही है, उसे बन्द कर रखने में नहीं। और उसे अंधाधुँध चलाना भी ख़तरे से खाली नहीं है। उसके ब्रेकों का उपयोग करके ही उसे चलाना चाहिये। इसी प्रकार भोग-विलास की गाड़ी को चलाते समय भी विवेक और त्याग के ब्रेकों का इस्तेमाल बराबर करते रहना चाहिए—अन्यथा परिवार, समाज और राष्ट्र को आपकी गाड़ी से सर्वदा ख़तरा बना रहेगा। इसलिए भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते समय भी विवेक और त्याग का सर्वदा ख्याल बनाये रखिये। अगर आप उस समय भी विवेकशील बने रहेंगे—तो, उस नारकीय जीवन से आपको शीघ्र ही छुटकारा मिल जायेगा—और आप में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि गुणों का विकास होगा और आपके मानव का वास्तविक रूप आपके सम्मुख आजायेगा।

और तीसरा ग्रहण प्रमाद का है। प्रमाद के कारण ही हम अपनी अन्तः शक्तियों को पहिचान लेने पर भी उन्हें आत्मोत्थान में नहीं लगा पाते—नहीं लगा सकते—इसलिए ऐसे व्यक्ति को वो आत्म-दर्शन का इच्छुक है और एक ही सत्य का पुजारी है, प्रमाद से सर्वदा दूर रहना चाहिए।

चौथा ग्रहण कषाय का है। कषाय-कलुषित मनुष्य न अपना ही कल्याण कर सकता है और न किसी दूसरे का ही! उसका जीवन सर्वदा पतनोन्मुख रहता है। तो, स्वयँ को पतन की ओर जाने से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि

मनुष्य कषाय पर विजय प्राप्त करे।

और पाँचवां ग्रहण योग का है। अपने मन, वचन और शरीर को सदा सत्-कार्यों में त्रियोजित करते रहना ही इस ग्रहण से बचने का सर्वोत्तम उपाय है।

तो, इस प्रकार आत्मा के अनेक ग्रहण हैं। सूर्य और चन्द्र को ग्रसने के लिए दो ही राक्षस हैं; मगर इस आत्मा को ग्रसने के लिए अनेक दुर्गुण मुँह-बायें बैठे रहते हैं। तो, इन सब दुर्गुणों के आधिपत्य से आत्मा को मुक्त करना ही जीवन का एकमात्र ध्येय है।

साथ ही मानव का जीवन दुहरा होता है। एक तरफ़ उसे परिवार, समाज और राष्ट्र की बुराइयों से लड़ना पड़ता है और दूसरी ओर उसे अपनी आत्मा को ग्रसने वाले अनेक राहु-केतुओं से भी निरन्तर लड़ते रहना पड़ता है। जैसे एक सैनिक अपने राष्ट्र की रक्षा बाहर और अन्दर दोनों ओर से करता है, उसी प्रकार हर एक इन्सान को चाहिए कि वह अपने जीवन को विकसित करने के लिए बाहर और भीतर की सभी बुराइयों से लड़ता रहे—और सत्य जहाँ भी दिखलाई दे, जहाँ भी मिले, उसे वहीं से ग्रहण करले। अपनी बुद्धि और विवेक को सदा जागृत रक्खे। वास्तव में, अपनी आत्मा को ग्रहण से मुक्त करने का यही एक सर्वोत्तम और प्रशस्त मार्ग है। आत्म-दर्शन—इस तरह विश्व-दर्शन करने का यही सरल उपाय है।

जोधपुर
२६-७-५३

अपराजित जीवन

साधक की साधना के सम्बन्ध में विचारकों के मस्तिष्क में सर्वदा ही दो विरोधी भावनाएँ अपना कार्य करती रही हैं। वास्तव में, उनके लिए यह ऐसा प्रश्न है, जिसका एक ही उत्तर निर्धारित करने में उन्हें हमेशा कठिनाई का अनुभव होता रहा है। इसीलिये कोई विचारक अपार शरीर-कष्ट को ही आत्मा की मुक्ति का साधन मानकर चला है और साधना के रूप-निर्धारण के समय उसने घोर शरीर-कष्ट के अनगिनती चित्र अंकित किये है—मगर दूसरा उसके इस वर्णन को अमर्यादित, असंगत और जनहिताय की भावना से सर्वथा शून्य मानते हुए उसके ठीक विपरीत अपने विचार प्रकट करता आया है। यही कारण है जो इस सम्बन्ध में जन-साधारण में भी हमेशा दो विरोधी विचार

रहे हैं। आप लोगों में से कोई पहिले विचारक की बात में अपनी बात जोड़कर कहता है—साधक को ऐसा ही बनना चाहिए। एक साधक को ऐसा ही होना चाहिए। अगर ऐसा ही तपस्यामय जीवन हो – साधक का, तो फिर बात ही क्या है। मगर दूसरा व्यक्ति अगर दूसरे विचारक के विचारों का पोषक है तो तुरन्त ही बोल उठता है—साधना की भी तो मर्यादायें हैं। साधक कोई अंधा हाथी तो नहीं है, जो दीवार से मार मार कर अपना सिर फोड़ता रहे और जब तक उसका सिर फूटकर खील-खील न हो जाये, तब तक दीवार पर उसे पटकता ही चला जाये। जब साधक के आँखें हैं और उसके पास बुद्धि भी है तो वह अपने जीवन को इस रूप में क्यों न ढाले जो अपने चारित्र के बल के प्रकाश से संसार को प्रकाशित करता हुआ अपने जीवन की मंजिल को भी अच्छी तरह से पार कर जाये।

तो, अब जो प्रश्न है, वह है यह कि साधक को इन दोनों मार्गों में से कौनसा मार्ग अपनाना चाहिये? अपने जीवन को किस रूप में ढालना चाहिये? क्या वह अपने शरीर को गलाते हुये जीवन की साधना को पूरी करे—अथवा इस शरीर से लोक की सेवा करते हुये आत्म-कल्याण के पथ पर आगे बढ़े? साधक के जीवन से सम्बन्धित इस प्रश्न के उत्तर के लिये आप प्रायः विश्व के किसी भी धर्म की पुस्तक को उठाकर देख लीजिये, सभी धर्म-ग्रन्थों में इस प्रश्न का उत्तर आपको उलझा हुआ-सा ही मिलेगा। किसी विचारक ने इस प्रश्न का उत्तर किसी रूप में

दिया है और किसी ने किसी रूप में !

मेरी दृष्टि में साधक के लिये जहाँ तक तितिक्षा का प्रश्न है, प्रकृति के उपद्रवों को सहन करने की बात है, वहाँ तक मैं कहूँगा कि उसको इस योग्य तो बनना ही चाहिये कि वह गर्मी, सर्दी और वर्षा को सहज-भाव से ही सहन कर ले। भूख और प्यास को आनन्द-पूर्वक बर्दाश्त कर ले। सर्दी सहन करने का अवसर आये तो लोट-पोट न हो जाये। गर्मी बर्दाश्त करने की नौबत आये तो ढेर न हो जाये। भूख लगे और भोजन मिलने में देरी हो तो सारे मोहल्ले को सर पर न उठा ले। प्यास लगे ज़रासी, और बरस पड़े—बेटे पर या पत्नि पर, मैं तो प्यासा मर रहा हूँ—अरे तुम सब कहाँ मर गये ? इसी प्रकार गुरु चिल्लाये शिष्यों पर—अरे दुष्टो ! तुम सब कहाँ चले गये, मैं तो प्यास के कारण मर चला। मानो, गुरुजी ने चेलों की वह फौज पानी पिलाने के लिये ही इकट्ठी की हो। कोई डॉक्टर, वैद्य या हकीम बीमार की सेवा के लिये इसलिये घर से बाहर न निकले—क्योंकि, बाहर उस समय कड़कड़ाती धूप पड़ रही है अथवा मूसलाधार वर्षा हो रही है। उस समय धूप में निकलने पर तो उसे लू लगने का डर सताये और पानी में निकलने पर जुक़ाम, खाँसी और बुखार का भय उसके मन में घर कर बैठे। इसी प्रकार मान लो, साँवन-भादों की गहरी अँधियारी झुकी हुई है—पानी का ज़ोर अपनी चरम-सीमा पर है और तभी आपके किसी पड़ौसी के यहाँ कोई गड़बड़ हो जाती है और वह सहायता के लिए आपको पुकारता

है, आवाज़ पर आवाज़ देता है; मगर आप मौसम और समय की कठोरता की बात सोच कर चुप लगा जाते हैं, उसकी आवाज़ का उत्तर भी नहीं देते—तो, साधक की यह स्थिति अच्छी नहीं कही जा-सकती। मेरे विचार में इसे कोई भी पसन्द नहीं करेगा—क्योंकि उसकी यह स्थिति आपके मन में गौरव की भावना को नहीं जगा सकती—इसके विपरीत यह तो आपके मन में हीन-भावना को जन्म देती है।

और अभाग्यवश पिछले अनेक वर्षों से भारत में साधक की यही स्थिति चली आ रही है, जिससे भारतीयों का नैतिक-स्तर कहीं का कहीं पहुँच गया है। उसकी इस हीन-भावना का जो-भी बुरा प्रभाव पड़ा है उसको आज हम अपनी आँखों से देख रहे हैं। भारत के नैतिक-पतन की जन्म-दात्री वास्तव में साधक की यह हीन-भावना ही है, जिसने भारतीयों को विनाश के गहरे गर्त्त में गिरा दिया है। इसी के कारण आज न साधु, साधु रह गया है, और न गृहस्थ, गृहस्थ ही। दोनों ने ही अपना कर्मठ रूप बिल्कुल भुला दिया है। और अब आकर तो यह स्थिति पैदा हो गई है कि इनमें से प्रत्येक अपने मन में अपने ही सुखों की कल्पना करता हुआ जीवन को समाप्त कर देता है। मखमली सेज पर सोने की चाह में ही मर-मिटता है।

तो, जब गृहस्थ की यह स्थिति हो गई तो उसका क्षत्रियत्व नष्ट हो गया। रण-क्षेत्र में जूझने वाले सिपाही का-सा ओज

समाप्त हो गया। इसीलिये आज गृहस्थ समय पड़ने पर नपुंसक की भाँति खड़ा-खड़ा सब कुछ अपनी आँखों से देखता रहता है। आज वह धूप और वर्षा की परवाह करता है। अपने कर्त्तव्य-पथ से भटका हुआ कुमार्ग पर आगे बढ़ता जाता शरीर-सुख की चिन्ता में ही निमग्न रहता है। जीवन के लक्ष्य की ओर ध्यान न देकर इस नश्वर शरीर को सजाकर जीवन-लीला को समाप्त कर देता है। तो, ऐसे कर्त्तव्य-विमुख और नपुंसक गृहस्थ से अपनी और संसार की भलाई के सम्बन्ध में क्या होना-जाना है। तो, ऐसे जो जीवन हैं, उन्होंने भारतवर्ष के गौरव को नष्ट कर दिया है।

पहिले और अब के ब्राह्मण मे जमीन-आसमान जैसा अन्तर है। वैश्य और क्षत्रिय में भी। आज का ब्राह्मण भोजन और वस्त्र की चिन्ता करता है; मगर फिर भी भरपेट और तन ढकने-योग्य नहीं पाता। आज वह अज्ञान के अन्धकार में फँस गया है और ज्ञान की मशाल जो उसके पास थी वह बुझ गई है, इसीलिए आज उसे भोजन-वस्त्र की चिन्ता करनी पड़ती है। मगर युगों पूर्व वाले ब्राह्मण को इस सम्बन्ध में सोचना-विचारना नहीं पड़ता था। इस सम्बन्ध में वह कभी सोचता ही न था। एक बार उस युग के ब्राह्मण से किसी ने पूछा—ज्ञान की मशाल हाथ में लेकर इसके प्रकाश को देश के कोने-कोने में पहुँचाने की तैयारी में तो हो, विप्रवर! मगर भोजन और वस्त्र कहाँ पाओगे? तो, उस ब्राह्मण ने इस प्रश्न के उत्तर में प्रश्न-

कर्त्ता से कहा—जो प्रभु के भक्त हैं और प्रभु के बताये मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं, उन्हें भोजन और वस्त्र की चिन्ता नहीं सताती। अगर उन्हें कोई दे तो ठीक और न दे तो भी ठीक। उसके लिए प्रकृति के भांडार का द्वार खुला पड़ा है। भोजन और वस्त्र की चिन्ता साधक को पथ-च्युत नहीं कर सकती—भद्र ! इसीलिए वह अबाध-गति से अपने पथ पर आगे बढ़ता चला जाता है। शरीर-सम्बन्धी कोई भी आवश्यकता उसके पैरों में बेड़ी बनकर नहीं अटक सकती और न उस जाते हुये को रोक ही सकती है। साधक का जीवन साधनामय होता है, भोग और विलास में अनुरक्त नहीं—इसीलिये वह किसी भी परिस्थिति का सहर्ष स्वागत करता है।

और उस साधक ब्राह्मण की यह गौरवमयी वाणी आज भी गूंज रही है, मगर आज के विलासी जीवन उसे सुन नहीं पाते। ब्राह्मण भी नहीं और न क्षत्रिय ही—वैश्य भी नहीं। आज तो ये सभी अपना ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व बिल्कुल भूल गये हैं। मगर उस युग के ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व का तेज दमदमकर दमक रहा था, तभी तो वह अपनी ओजस्वी वाणी में यह सब-कुछ कह सका था। अभद्र को भद्र और अशिक्षितों को शिक्षित बनाने देश और समुद्र-पार के देशों के कोने-कोने में ज्ञान की तेजोमय मशाल को अपने हाथ में लेकर जा-सका था। भारतीय संस्कृति की छाप सभी के मन और मस्तिष्क पर लगा सका था।

उस समय के क्षत्रियों और वैश्यों ने भी अपनी इसी जिन्दा-

समाप्त हो गया। इसीलिये आज गृहस्थ समय पड़ने पर नपुंसक की भाँति खड़ा-खड़ा सब कुछ अपनी आँखों से देखता रहता है। आज वह धूप और बर्षा की परवाह करता है। अपने कर्त्तव्य-पथ से भटका हुआ कुमार्ग पर आगे बढ़ता जाता शरीर-सुख की चिन्ता में ही निमग्न रहता है। जीवन के लक्ष्य की ओर ध्यान न देकर इस नश्वर शरीर को सजाकर जीवन-लीला को समाप्त कर देता है। तो, ऐसे कर्त्तव्य-विमुख और नपुंसक गृहस्थ से अपनी और संसार की भलाई के सम्बन्ध में क्या होना-जाना है। तो, ऐसे जो जीवन हैं, उन्होंने भारतवर्ष के गौरव को नष्ट कर दिया है।

पहिले और अब के ब्राह्मण में जमीन-आसमान जैसा अन्तर है। वैश्य और क्षत्रिय में भी। आज का ब्राह्मण भोजन और वस्त्र की चिन्ता करता है; मगर फिर भी भरपेट और तन ढकने-योग्य नहीं पाता। आज वह अज्ञान के अन्धकार में फँस गया है और ज्ञान की मशाल जो उसके पास थी वह बुझ गई है, इसीलिए आज उसे भोजन-वस्त्र की चिन्ता करनी पड़ती है। मगर युगों पूर्व वाले ब्राह्मण को इस सम्बन्ध में सोचना-विचारना नहीं पड़ता था। इस सम्बन्ध में वह कभी सोचता ही न था। एक बार उस युग के ब्राह्मण से किसी ने पूछा—ज्ञान की मशाल हाथ में लेकर इसके प्रकाश को देश के कोने-कोने में पहुँचाने की तैयारी में तो हो, विप्रवर! मगर भोजन और वस्त्र कहाँ पाओगे? तो, उस ब्राह्मण ने इस प्रश्न के उत्तर में प्रश्न-

कर्त्ता से कहा—जो प्रभु के भक्त हैं और प्रभु के बताये मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं, उन्हें भोजन और वस्त्र की चिन्ता नहीं सताती। अगर उन्हें कोई दे तो ठीक और न दे तो भी ठीक। उसके लिए प्रकृति के भांडार का द्वार खुला पड़ा है। भोजन और वस्त्र की चिन्ता साधक को पथ-च्युत नहीं कर सकती—भद्र! इसीलिए वह अबाध-गति से अपने पथ पर आगे बढ़ता चला जाता है। शरीर-सम्बन्धी कोई भी आवश्यकता उसके पैरों में बेड़ी बनकर नहीं अटक सकती और न उस जाते हुये को रोक ही सकती है। साधक का जीवन साधनामय होता है, भोग और विलास में अनुरक्त नहीं—इसीलिये वह किसी भी परिस्थिति का सहर्ष स्वागत करता है।

और उस साधक ब्राह्मण की यह गौरवमयी वाणी आज भी गूंज रही है, मगर आज के विलासी जीवन उसे सुन नहीं पाते। ब्राह्मण भी नहीं और न क्षत्रिय ही—वैश्य भी नहीं। आज तो ये सभी अपना ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व बिल्कुल भूल गये हैं। मगर उस युग के ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व का तेज दमदमकर दमक रहा था, तभी तो वह अपनी ओजस्वी वाणी में यह सब-कुछ कह सका था। अभद्र को भद्र और अशिक्षितों को शिक्षित बनाने देश और समुद्र-पार के देशों के कोने-कोने में ज्ञान की तेजोमय मशाल को अपने हाथ में लेकर जा-सका था। भारतीय संस्कृति की छाप सभी के मन और मस्तिष्क पर लगा सका था।

उस समय के क्षत्रियों और वैश्यों ने भी अपनी इसी ज़िन्दा-

दिली की सहायता से ब्राह्मण के इस कार्य को आगे और और आगे बढ़ाया। उस समय के वैश्य आज की भाँति गद्दियों पर पड़े-पड़े नमक और तेल बेच कर अपने जीवन को समाप्त कर देने वाले वैश्य नहीं थे। उन्होंने सुदूर देशों के विस्तृत मैदानों, दुर्गम पहाड़ों और भयानक जंगलों को पार कर भारत के गौरव की छाप उन देश-वासियों के मन पर अंकित की। पूर्णतया शुद्ध वस्तुएँ लेकर वे उन देशों में पहुँचे और उचित मूल्य लेकर उन वस्तुओं को उन देशों के रहने वालों के हाथों उन्हों ने बेचा। पहिली बार भाव पूछने की बात उनके सम्मुख आई; मगर फिर कभी भी उनसे वस्तुओं का भाव नहीं पूछा गया। ऐसी थी उस युग के वैश्यों की प्रामाणिकता! यही कारण है जो उन्होंने भारत वर्ष में लक्ष्मी का ढेर लगा दिया। भारतवर्ष को सोने की चिड़िया बना दिया।

मगर साथ ही उन दूसरे देशों का शोषण भी नहीं किया। अपने देश का माल उन देशों में बेचा और उन देशों का माल वे खरीद कर अपने देश में लाये। साथ ही उन देशों को अपनी संस्कृति की तेज रोशनी भी प्रदान की, जिससे उन देशों के निवासी सफलतापूर्वक जीवन-पथ पर अग्रसर हुए और भारतवर्ष की उस संस्कृति को आजतक भी न भूल सके। उनमें क्षत्रियत्व का तेज था, इसीलिये तो वे इतना-कुछ कर सके।

किन्तु जब से वे अपने इस पवित्र कर्त्तव्य को भूले और अपने ही स्वार्थ और भोग-विलास में निमग्न रहने लगे, तब से उनका

यह तेज ठंडा होगया। तो, उनके वे सोने के महल भी धूल में मिल गये। भामाशाह और जगडू के आदर्श को वे भूल गये तो भोग के कीड़े बनकर बिलबिलाने लगे। और आज वास्तव में, वे अपनी ऐसी ही जिन्दगी बिता रहे हैं। आज उनमें से क्षत्रियत्व निकल गया है तो उनमें कष्ट सहने की शक्ति भी नहीं रह गई है। इसीलिए आज वे सरस्वती की उपासना करना मूर्खता की बात समझने लगे हैं, मगर दुःख इस बात का है कि वे लक्ष्मी की उपासना करने में भी असमर्थ हैं। वास्तव में, इस प्रकार आज वे अपंग और निकम्मे हैं। दरिद्र और कमजोर हैं। उनका जीवन व्यर्थ और प्रयोजन से शून्य है। आज वे जब अपना कल्याण कर सकने में ही असमर्थ है तो दूसरे का कल्याण फिर वे किस प्रकार-कर सकते हैं। कर सकते भी नहीं और करते भी नहीं। आज के क्षत्रियत्व से हीन ये वैश्य !

आज क्षत्रिय जाति भी क्षत्रियत्व से हीन हुई दृष्टिगोचर होती है। एक समय था; जब देश की रक्षा का समूचा भार इसी जाति के वीरों के कंधों पर था। देश में निवास करने वाली सभी जातियों ने इस जाति के वीरोचित गुणों पर रीझ कर इसे अपना राजा और रक्षक स्वीकार किया था—और वास्तव में, इस क़ौम के अनेक वीरों ने अपनी प्रजा की रक्षा करने में कभी आना-कानी नहीं की थी। वे प्रतिक्षण, प्रतिपल तैयार रहने वाले बुद्धिमान वीर; साहसी, अडिग और सतर्क प्रहरी थे—देश के ! अपनी प्रजा के ! मगर जब ये वीर भी अपने प्रहरी के कर्त्तव्य को भुला

बैठे और हास-विलास में रत होगये—साक़ी और शराब में मस्त हो गये—तो, क्षत्रियत्व का ओज इनमें से निकलकर इनसे बहुत दूर चला गया। जब ये रक्षक से भक्षक बन गये—तो, इनका जीवन भी निकम्मा और दूषित हो गया। और इस तरह जब ये अपने कर्तव्य को भूल गये—तो, इनके सोने के सिंहासन भी धूल में मिल गये। इनका बड़प्पन नष्ट हो गया और आज तो ये उस कगार पर खड़े हैं कि हवा का एक हल्का झोंका ही इन्हें बहुत नीचे गिराकर समाप्त कर सकता है। आज जब ये अपनी ही रक्षा करने में असमर्थ हैं तो देश की रक्षा का अधिकार भी इनके निर्बल हाथों में से जनता ने छीन लिया है। और क्षत्रियत्व से शून्य ये क्षत्रिय !

जिन्होंने कभी भारतवर्ष की सभ्यता-संस्कृति को संसार के कोने-कोने मे फैलाया था। जिन्होंने भारतवर्ष में सोने के महल चिनाये थे; मगर जो महल आज खंडहरों के रूप में परिवर्तित होगये हैं, जिन महलों के खँडहरों में आज भूत और प्रेत निवास करते हैं—भूत और प्रेतों के रूप में ये मानव ! जिन्होंने जीवन के आदर्श और कर्त्तव्यों को बिल्कुल भुला दिया है। जीवन की महत्ता को विस्मृत कर दिया है। समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य को जो आज जानते ही नहीं। दूसरे के सुख-दुःख की कल्पना जो आज कर सकते ही नहीं। जो आज किसी के हमदर्द नहीं उसके विरोधी बनकर उसके सुख को दुख में और दुखी के दुख को बढ़ाकर दुगना-तिगुना कर देने में ही अपना बड़प्पन समझते

हैं—तो ये भूत नही तो और क्या हैं ! कोरे भूत।

तो, आज के इन भूतों को अगर मानव बनना है तो अपने पूर्वजों के चरित्र को देखना होगा, अपने चरित्र को उसी के अनुसार ढालना होगा। तभी उनके चरित्र में सुगन्ध उत्पन्न हो सकती है, अन्यथा नहीं। सभी प्रकार के परिषयः केवल साधुओं के लिए ही रिजर्व नहीं कर दिये गये हैं—जैसा कि आम तौर पर आज का प्रत्येक गृहस्थ सोचता है। साथ ही उसकी यह धारणा भी गलत है कि गृहस्थी भोग-विलास में रत रहने के लिये ही पैदा हुआ है। मैं कहता हूँ, सर्दी-गर्मी और भूख प्यास को सहन करने की शक्ति गृहस्थ में भी होनी चाहिये। परिषयः सहन करने की भावना उसमें भी होनो चाहिये। भगवान् महावीर की वह पवित्र वाणी केवल भिक्षा का पात्र लेकर माँगने वाले के लिए ही नहीं है। वह साधु की झोली में बन्द नहीं करदी गई है। वह तो विशाल आकाश के नीचे पृथ्वी के कण-कण में व्याप्त है। अगर गृहस्थ ठीक सोचने की क्षमता स्वयं में फिर से उत्पन्न करले तो उस वाणी का रसास्वादन साधु की भाँति वह भी कर सकता है। परिषयः की तितिक्षा में से उसे भी बहुत कुछ मिल सकता है। वह भी साधना का जीवन व्यतीत कर सकता है। अपने पूर्वजों के समान एक बार फिर वह मानव बन सकता है।

यदि कोई साधु बनकर ही साधना का जीवन व्यतीत करना चाहता है—तो, उसे बहुत कुछ सोच-समझ कर इस क्षेत्र में आना चाहिये। इस बात को भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि कोई

भी केवल साधु का भेष धारण कर लेने से ही साधु नहीं बन जाता। अगर वह भोगों को पूरी तौर से छोड़ नहीं सका है तो साधु के क्षेत्र में भी वह अधिक दिनों तक ठहर नहीं सकेगा। ठहर नहीं सकेगा—तो, भगोड़े सिपाही के समान उसका जीवन फिर निकम्मा और दूषित हो जायेगा। वास्तव में साधु के क्षेत्र में प्रवेश करने पर उस पर दोहरा उत्तरदायित्व आजाता है। यहाँ पर सामूहिक चेतना को भी साथ में ले कर चलना पड़ता है। गृहस्थ के समान साधु का जीवन किसी विशेष समुदाय, जाति और देश से बँधा हुआ नहीं होता—वह तो समूचे विश्व को मानवता का सन्देश देने के लिये ही जीवन-पथ पर आगे बढ़ता है। और जब वह इतने महान् और परम पवित्र कर्त्तव्य को हर समय अपने सामने रखता है तो उसके जीवन में परिषयः की बात तो आ ही जाती है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, मान-अपमान और घृणा-उपद्रव आदि सब कुछ उसे सहन करना पड़ता है।

तो, इस तरह माना साधु का क्षेत्र बहुत बड़ा है—उसका कार्य-क्षेत्र समूचा विश्व है और गृहस्थ का क्षेत्र इसके मुक़ाबिले में छोटा है, बहुत छोटा! मगर जहाँ तक तितिक्षा का प्रश्न है, वह दोनों के लिये एकसा है। इस विषय में केवल इतना ही सत्य है कि यह प्रश्न साधु के सम्मुख प्रतिपल खड़ा है और गृहस्थ के सामने वह अन्तर देकर उपस्थित होता है। कभी-कभी आता है। और इसका कारण है, गृहस्थ को अनेक सुविधायें प्राप्त हैं; मगर साधु उन सुविधाओं से दूर जाकर खड़ा होगया है। वह इसलिये

साधु नहीं बना है कि दूसरों के द्वारा बनी-बनाई रोटियों पर अधिकार जमा कर बैठ जाये—और जब तक वे मान के साथ मिलती रहे, तब तक तो वह उन्हें उड़ाता रहे और जब अपमान का विष पीने के लिये सामने आये तो साधु का अपना वेष उतार कर फैंक दे। शिवशंकर के समान लोक-कल्याण के हितार्थ उस विष को पान न करे। हिमालय की चट्टान के समान जो उस समय दृढ़ न रहे और कर्त्तव्य-क्षेत्र को छोड़कर भाग जाये। तो, वह साधु नहीं, वह तो भोग-विलास का कीड़ा है, जो अपमान की अग्नि को सह न सका और अपने वास्तविक जीवन मे पहुँच गया—नरक का कीड़ा—वह !

और ऐसा वह भी जो सर तो मुड़ा ले; मगर मन के विकारों को छोड़ न सके। साधु-वेश तो बना ले; मगर जो जीवन-भर रोता ही रहे। जो भिक्षा की झोली तो कधे पर डाल ले; मगर ज्ञान की झोली जिसके पास न हो—तो, ऐसा भी वह साधु नहीं, मुर्दा है। आजकल ऐसे ही साधुओं ने साधु के जीवन की ऊँचाई को बहुत नीचे गिरा दिया है। साधु के जीवन में तपस्या का बल चाहिए। कष्टों को सहन करने की क्षमता चाहिए। भूख-प्यास को सहन करने की शक्ति चाहिए। तभी, वह साधना के क्षेत्र में हिमालय की चट्टान के सदृश्य अडिग खड़ा रह सकता है। फिर, आँधी और तूफ़ान उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। उस सच्चे साधु को संसार की कोई भी शक्ति मार्ग-च्युत नहीं कर सकती।

हाँ, जो साधु अन्दर से खोखले हैं—जो केवल साधु का

बाना लेकर खड़े हैं—तो, मैं समझता हूँ, वे साधु तो आज नहीं तो कल जरूर मरेंगे। निश्चय ही मर जायेंगे। उन्हे कोई भी पार्टी उखाड़ कर फेंक देगी। वास्तव में, वे अपनी मौत स्वयं ही मर जायेंगे। उन्हें कोई रोने वाला भी मयस्सर नहीं होगा। किन्तु जिनके अन्दर सच्चा तेज मौजूद है, जो निष्प्राण नहीं हैं, जिनके अन्दर चारित्र और ज्ञान का बल मौजूद है, जिनके हृदय में साधना की ज्योति जग रही है, उनको गर्मी-सर्दी, घृणा-तिरस्कार और भूख-प्यास चूर नहीं कर सकतीं। अपमान का विष उन्हें मिटा नहीं सकता। और ऐसे ही साधु अनन्त काल से साधना के क्षेत्र में आगे बढ़े हैं और अनन्त काल तक बढ़ते चले जायेंगे। अब तक अनेकों सिंहासन जन्मे और मिट्टी में मिल गये; मगर ऐसे साधुओं की प्रगति को कोई भी न रोक सका—और न भविष्य मे ही कोई रोक सकेगा। वे तो कर्त्तव्य के क्षेत्र में ठीक ढँग पर बढ़ते ही चले जायेंगे।

तो, सच्चा साधु बनना है तो तितिक्षा चाहिए—जीवन में। सच्चे साधु का जीवन त्याग और तपस्या के बल पर ही ऊँचा उठता है। सच्चे साधु को आडम्बर जीवित नहीं रखते। वास्तव में, वह तो आडम्बरों से दूर रह कर ही जीवित रहता है। इसी लिए जब मैं साधुओं को भी आडम्बरों से घिरा हुआ देखता हूँ तो मैं ठहर कर सोचता ही रह जाता हूँ। एक दिन जब गृहस्थ थे तो विवाह में, मरने पर और जन्म पर आडम्बर थे; मगर जब साधु के जीवन में आ गये तो अब आडम्बरों का साथ क्यों?

जीवन के आडम्बरों को दूर हटाने के लिए ही तो साधु का वेश धारण किया, लेकिन फिर भी उनका साथ न छोड़ सके तो साधु बनने से लाभ ही क्या हुआ। यह बात तो समझ में कुछ आई नहीं—समझ में आने वाली है भी नहीं। जिन आडम्बरों के खिलाफ साधु-समाज ने अपनी आवाज़ बुलन्द की, अब आकर वे स्वयं ही उनसे घिर गये तो क्या महत्ता रही—उनके इस जीवन की ! जिस बुराई को हम गृहस्थ के जीवन से भी दूर हटा देने की सोचें, उसके ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलन्द करें; मगर उस बुराई से हम स्वयँ ही घिर जायें—तो, हमारे जीवन, हमारे कथन का फिर बड़प्पन ही क्या है।

तो, मैं कहता हूँ, इन आडम्बरों से साधु और गृहस्थ दोनों को ही दूर रहना चाहिए। तभी, जीवन में वह शक्ति प्राप्त हो-सकती है, जो मुक्ति के पथ पर आपको सतत् रूप से अग्रसर करती रहेगी। जो जीवन को जीवन की ऊँचाई पर पहुँचा कर अन्त में मोक्ष के मन्दिर में ले-जाकर खड़ा कर देगी।

तो, गृहस्थ के जीवन में भी तितिक्षा की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी एक साधु के जीवन में। तो, जीवन के कल्याण के लिए गृहस्थ को मखमली सेजों का मोह छोड़कर शुद्ध विचारों के बल पर स्वयँ में सच्चा बल जागृत करना चाहिए। सच्चे ज्ञान को गृहण कर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहिए। संकट के समय में आपत्तियाँ सहन करने के लिए लौह पुरुष बनना चाहिए। फिर, आपके मार्ग को आँधी और तूफान, गर्मी और

सर्दी और भूख और प्यास अवरुद्ध नहीं कर सकतीं। और जब पूर्वजों का यह सच्चा बल, सच्चा तेज आप में विद्यमान् होगा तो फिर आपका देश दरिद्र नहीं रह सकता। अज्ञान का अंधकार आपके देश में ठहर नहीं सकता। विधवाओं का करुण-क्रन्दन सुनाई नहीं पड़ सकता। बूढ़े अपने ही नेत्रों के जल से भीगे हुए दिखलाई नहीं दे-सकते। युवक गलियों में ठोकरें खाते हुए दृष्टिगोचर नहीं हो-सकते। देश के बच्चे अपनी जिन्दगी के पचास-साठ वर्ष गधों की तरह नहीं बिता सकते। नोन-तेल-लकड़ी के चक्कर में ही पड़े रहकर जीवन समाप्त नहीं कर सकते। बहिने पर्दे और फैशन के अधकार में घूम-घूम कर ही जिन्दगी नही गुजार सकतीं। केवल चूल्हे और चक्की में ही अपनी जिन्दगी नहीं खपा सकतीं। वे भी साधना के क्षेत्र में आगे बढ़कर देश में एक क्रान्ति उत्पन्न कर सकती है। सामाजिक क्षेत्र में जो आधा भाग उन्हें मिला है, इस प्रकार वे उसका उपभोग कर वीर माँ और वीर पत्नी, वीर पुत्री और वीर बहिन बनकर नारी के गौरव को एक बार फिर जीवित कर सकती हैं।

अगर भगवान् महावीर की वाणी को आपने भली प्रकार से सुना और समझा है तो मेरी बात से आप जरूर सहमत होंगे और देश के—समाज के इस विशाल अंग—नारी समुदाय की जागृति के पक्षपाती भी! अगर देश की एक भुजा ठीक है, बल-शाली है और दूसरी भुजा अशक्त और निकम्मी तो देश की रक्षा नहीं हो-सकती। अगर तलवार वाला हाथ वार करने में पटु है;

मगर ढाल वाला हाथ निस्सहाय—तो, तलवार वाला हाथ अधिक देर तक साथ नहीं दे-सकता। वह कट कर जरूर गिर जायेगा।

अगर किसी देश में अशक्त, बूढ़े और निस्सहाय व्यक्ति आँसू बहाते हैं तो उनके आँसू की प्रत्येक बूँद विष की बूँद के समान है और विष की यह बूंद देश की काया को धीरे-धीरे गला डालती है। इसलिये स्वयं में सच्चा क्षत्रियत्व पैदा करो, सेवा-मार्ग में बराबर आगे बढ़ो—तो, उनके आँसू बाहर निकल कर फिर देश की काया पर नहीं गिर सकते। वे आँखों के अन्दर ही सूख जायेंगे। आँखों के अन्दर ही सूख जायेंगे तो देश का अकल्याण होना फिर असंभव होगा।

मगर तितिक्षा का यह अर्थ नहीं है कि इस शरीर के साथ दुश्मनी निभाओ। अगर सौ वर्ष में मरते हो तो पचास वर्ष में ही यहाँ से कूँच कर जाओ। जैन-धर्म इस बात की प्रेरणा नहीं देता है। जैन-धर्म इस शरीर को अपना शत्रु नहीं समझता है, वह तो विकारों के साथ ही द्वन्द करने की सलाह देता है। इसी-लिये जैन-आचार्यों ने जैन और जिन की व्याख्या इस प्रकार की है—

रागद्वेषा दिशत्रून् जयतीति जिनः

राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, अहंकार आदि मनुष्य के अंत-रंग वैरी हैं, जो, इन पर विजय प्राप्त कर सकता है या कर लेता है, वह 'जिन' कहलाता है—और जो अभी इस ओर प्रयत्नशील है, जो अभी एक-एक विकार को जीवन-क्षेत्र से बाहर फेंकने के

लिये लड़ रहा है, वह जैन है।

तो, आचार्यों की इस व्याख्या में शरीर के साथ शत्रुता वर्तने की बात कहीं पर भी नहीं कही गई। आँख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि शरीर के किसी भी अंग का नाम कहीं पर भी नहीं लिया गया। यहाँ तो केवल विकारों के साथ लड़ने की ही बात कही गई है। मैं मानता हूँ, कभी-कभी ऐसा होता है कि साधना के बीच यह शरीर धोखा दे जाता है—इसके विकार उस समय कुछ दूसरी ही बात कहने लगते हैं; मगर उस समय भी इस पर सोटे बरसाना उचित नहीं है—क्योंकि यह शरीर तो सर्प के बिल के समान है, जिसमें सर्प शरण लेता है। मान लो, एक युवक हाथ में डंडा लेकर सर्प को मारने दौड़ा; मगर सर्प दौड़ कर अपनी बांबी में घुस गया और उसकी अन्तिम गहराई में जाकर बैठ गया तो उसकी बांबी के मुँह पर अगर वह युवक डंडे बरसाता है तो ऐसा करने से क्या वह सर्प मर जायेगा। तो, कोई भी साधक, चाहे वह साधु है अथवा गृहस्थी, जैन अथवा जिन बनने के लिये विकारों से लड़ता है। और अपने विकारों से लड़ने का नाम ही साधना है। अगर वह शरीर पर सोटे बरसाता है तो कहा जा सकता है कि वह वास्तविक साधना से बहुत दूर है।

वास्तव में, विकार ही सर्प हैं—नाकि उसकी बांबी! यह शरीर तो आपने अनेक बार धारण किया है और अनेक बार ही यह मरा है। कभी यह शरीर दफनाया गया है, कभी जला दया गया है और कभी योंही पड़ा रह कर गल-सड़ कर मिट्टी

में मिल गया है; मगर इस बात से कितनी आध्यात्मिक उन्नति हुई है, आपकी ? शायद कुछ भी नहीं ! तो, शरीर के साथ लड़ने से मुक्ति नहीं मिलती है। मुक्ति तो प्राप्त होती है, विकारों और वासनाओं के साथ जूझने से !

मगर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि इस शरीर को इतना महत्व दे दिया जाये कि कभी प्रसंग आये इससे कोई साहसिक कार्य लेने का—तो, यह मोह-ममता लेकर आपके सामने खड़ा हो जाये और आप भी इसकी मोह-ममता में फँस कर इससे वह कार्य ही न लें। तो, ऐसे प्रसंग के समय में आपमें इसके मोह को ठुकराने का साहस भी होना चाहिये। इस तरह के प्रसंगों के अवसर के लिये इसे तैयार रखने की तैयारी भी होनी चाहिये, जिससे मोह-ममता की बात आपके सामने आये ही नहीं। तो, आपको—साधक को अपनी तपस्या और साधना के द्वारा जीवन को आगे बढ़ाना चाहिये।

तपस्या के लिए तपस्या और तप के लिए तप—यह जैन-धर्म की धारणा नहीं है। केवल तप करने के लिये ही तप करना, यह जैन-धर्म की साधना नहीं है। जैन-धर्म में तप करने का अर्थ है, विकारों को शान्त करना। अपने मन के विकारों को दूर करना। तो, जब तक आत्मा मन के विकारों को शान्त नहीं कर पा रहा है—अभिमान, क्रोध, माया, लोभ और वासना को दूर नहीं फेंक रहा है, तो, व्यर्थ के देह-दंड-रूप तप से क्या लाभ ? मान लो, तप करने से भी मन शान्त नहीं हुआ, ठंडा होने के बजाय

वह और गर्म हो उठा—उलझन में पड़ गया—तो ऐसी स्थिति में जैन-धर्म में उसे पारने के द्वारा शान्त करने की बात कही गई है। हमारे यहाँ दोनों का ही महत्व है।

भगवान् महावीर का एक नाम था—वर्द्धमान ! यानी निरन्तर बढ़ता रहने वाला ! और हम देखते हैं कि भगवान् महावीर की आत्मा साधना के क्षेत्र में निरन्तर बढ़ती ही चली गई। वह ऐसा सिंह था, जिसने संकटों और आपत्तियों से घबड़ा कर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। यही कारण है जो भगवान् वर्द्धमान नाम से भी पुकारे जाते हैं। भगवान् ने तपस्या की और छः छः महीने की तपस्या की। वह एक दिन, दो दिन—इस तरह छः छः मास तक निरन्तर पवित्रता के क्षेत्र में, शान्ति के क्षेत्र में और विजय के क्षेत्र में, क़दम-क़दम कर निरन्तर आगे बढ़ते गये और जब छः मास की तपस्या से निरत हुए तो उन्होंने अगर पारने की आवश्यकता महसूस की तो पारना भी किया। वह नगर की गलियों में घूमे और सद्भावना भरा हृदय वाला अगर कोई गृहस्थ उन्हें दिखलाई पड़ा तो उन्होंने उसके सम्मुख हाथ फैला दिया। और उस भाई से आहार प्राप्त किया। और इस प्रकार जीवन के क्षेत्र में एक क़दम और आगे बढ़े। उन्होंने जीवन की सर्वोत्कृष्ट ऊँचाई प्राप्त की।

तो आवश्यकता इस बात की है कि इसे हम दर्शन के प्रकाश में देखें। वस्तु-तत्व को समझने के लिये विकसित बुद्धि से काम लें। और अगर ऐसा करते हैं तो तप या पारने के पीछे पागल

होने की असलियत हमारी समझ में सहज ही में आ-जायेगी। तो, वास्तविकता तो यह है कि मन के विकारों को दूर करने के लिये जब जिस क्रिया की आवश्यकता महसूस करो, तभी वह क्रिया करो और जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़ो। जरूरत हो तो तप करो, पारने की आवश्यता हो तो पारना करो। स्वाध्याय की आवश्यकता का अनुभव करते हो तो स्वाध्याय करो। तपस्या, साधना और पारने से बँधो मत! बँधो केवल जीवन की पवित्रता के साथ! और इसको क़ायम रखने के लिये जब जिस क्रिया की आवश्यकता समझो, उस क्रिया को अमल में लाओ।

जिस देश और समाज के व्यक्ति में विकसित-बुद्धि से कार्य करने की क्षमता है, वह देश और समाज और वह व्यक्ति सर्वदा जीवन की ऊँचाई पर चढ़ेगा। वह मुर्दा बनकर जीवित नहीं रहेगा। जीवन के सत्य को वह भली प्रकार से समझेगा और पवित्रता के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता जायेगा।

जोधपुर
१-११-१९५३

वह और गर्म हो उठा—उलझन में पड़ गया—तो ऐसी स्थिति में जैन-धर्म में उसे पारने के द्वारा शान्त करने की बात कही गई है। हमारे यहाँ दोनों का ही महत्व है।

भगवान् महावीर का एक नाम था—वर्धमान ! यानी निरन्तर बढ़ता रहने वाला ! और हम देखते हैं कि भगवान् महावीर की आत्मा साधना के क्षेत्र में निरन्तर बढ़ती ही चली गई। वह ऐसा सिंह था, जिसने संकटों और आपत्तियों से घबड़ा कर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। यही कारण है जो भगवान् वर्धमान नाम से भी पुकारे जाते हैं। भगवान् ने तपस्या की और छः छः महीने की तपस्या की। वह एक दिन, दो दिन—इस तरह छः छः मास तक निरन्तर पवित्रता के क्षेत्र में, शान्ति के क्षेत्र में और विजय के क्षेत्र मे, क़दम-क़दम कर निरन्तर आगे बढ़ते गये और जब छः मास की तपस्या से निरत हुए तो उन्होंने अगर पारने की आवश्यकता महसूस की तो पारना भी किया। वह नगर की गलियों में घूमे और सद्भावना भरा हृदय वाला अगर कोई गृहस्थ उन्हें दिखलाई पड़ा तो उन्होंने उसके सम्मुख हाथ फैला दिया। और उस भाई से आहार प्राप्त किया। और इस प्रकार जीवन के क्षेत्र में एक क़दम और आगे बढ़े। उन्होंने जीवन की सर्वोत्कृष्ट ऊँचाई प्राप्त की।

तो आवश्यकता इस बात की है कि इसे हम दर्शन के प्रकाश में देखें। वस्तु-तत्व को समझने के लिये विकसित बुद्धि से काम लें। और अगर ऐसा करते हैं तो तप या पारने के पीछे पागल

होने की असलियत हमारी समझ में सहज ही में आ-जायेगी। तो, वास्तविकता तो यह है कि मन के विकारों को दूर करने के लिये जब जिस क्रिया की आवश्यकता महसूस करो, तभी वह क्रिया करो और जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़ो। जरूरत हो तो तप करो, पारने की आवश्यता हो तो पारना करो। स्वाध्याय की आवश्यकता का अनुभव करते हो तो स्वाध्याय करो। तपस्या, साधना और पारने से बँधो मत! बँधो केवल जीवन की पवित्रता के साथ! और इसको क़ायम रखने के लिये जब जिस क्रिया की आवश्यकता समझो, उस क्रिया को अमल में लाओ।

जिस देश और समाज के व्यक्ति में विकसित-बुद्धि से कार्य करने की क्षमता है, वह देश और समाज और वह व्यक्ति सर्वदा जीवन की ऊँचाई पर चढ़ेगा। वह मुर्दा बनकर जीवित नहीं रहेगा। जीवन के सत्य को वह भली प्रकार से समझेगा और पवित्रता के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता जायेगा।

जोधपुर
१-११-१९५३

समाज में ही व्यक्ति समाया है

जैन-धर्म के सामने एक प्रश्न है और वह इतना महत्वपूर्ण है कि उस पर हमें गभीरता के साथ, संजीदगी के साथ और शास्त्रों के आधार को स्वीकार करते हुये वर्त्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को दृष्टि में रखकर गहरा और गंभीर विचार करना होगा। इस प्रकार जब तक हम उसे हल नहीं कर लेते, तब तक हमारा उसके सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्णय नहीं हो-सकता। न वस्तु-स्थिति को धुंधली रख कर हम जैन-धर्म के मर्म-स्थल को ही छू-सकते हैं। केवल शास्त्रों के ऊपरी अध्ययन से भी कोई कार्य नहीं बनेगा। परम्परा के ऊपर झोले खाने से जीवन-समुद्र की गहराई जानने का दावा करना भारी भूल होगी। तो, अब प्रश्न होता है कि आखिर वह प्रश्न क्या है?

मैं अनेक बार स्पष्ट रूप से कह चुका हूँ कि जैन-धर्म संसार में कुछ करने के लिये है। संसार में कुछ करने के लिये उससे मानव-मात्र को प्रेरणा मिलती है। वह प्रत्येक मानव को रोक कर, टोक कर कहता है कि कुछ करो। तो, आज उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि वह व्यक्ति को मान्यता देता है या मानव-समाज को मुख्य मानकर चलता है। उसकी दृष्टि में व्यक्ति बड़ा है या समाज बड़ा है। वह माला के अलग- अलग बिखरे-पड़े मनकों की भाँति जीवन को एक अलग इकाई के रूप में मान्यता देता है—अथवा माला या इकाई के समष्टि-भाव को महत्ता प्रदान करता है।

जब-जब कोई साधक इस प्रश्न पर विचार करने के लिये बैठता है और इस गंभीर और गौरवशाली प्रश्न की गहराई में डुबकी लगाता है तो उसकी बुद्धि में अनेकानेक बातें आकर अटक जाती हैं। इसीलिये इस प्रश्न का उत्तर देते समय कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। कुछ लोगों की धारणा कुछ बन जाती है और कुछों की कुछ। तो, उनमें से कुछ कहते हैं कि व्यक्ति ही बड़ा है। उसका समूह या समाज बड़ा नहीं है। इसलिए व्यक्ति को अपने ही निर्माण की ओर ध्यान देना चाहिये। उसे अपने लिये ही सामग्री जुटाकर उस सामग्री का स्वयं ही उपभोग करना चाहिये। उसे तो जीवन के पथ पर अपनी ही इकाई लेकर चलना है। और जब उसे अपनी ही इकाई मानकर चलना है तो उसकी दृष्टि में समाज का कोई मूल्य नहीं होना चाहिये। समाज अपने

कर्मों का फल भोगे, उसे इस बात से क्या वास्ता ? इस सम्बन्ध में कुछ भाइयों की ऐसी धारणा होने के कारण ही अनेक व्यक्ति जैन-धर्म को व्यक्ति-प्रधान धर्म मानने लगे हैं। वे कहते हैं, जब इसकी दृष्टि में समूह का कोई मूल्य ही नहीं है तो इसे व्यक्ति-प्रधान धर्म मानने के सिवाय और माना भी क्या जा-सकता है !

किन्तु दूसरी ओर के विचारकों से जब हम यही प्रश्न करते हैं तो इस सम्बन्ध में उनके विचार भी हमें सुनने को मिलते हैं। उनकी दृष्टि मे व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। कोई अस्तित्व नहीं। अपने विचारों में वे व्यक्ति के स्थान पर समाज को ही महत्व की वस्तु स्वीकार करते हैं। मनकाओं को नहीं, वे माला का ही मूल्य आँकते हैं। कह सकते हैं, उनकी दृष्टि में मनका नहीं, माला है । व्यक्ति नहीं, उसका समूह है।

मगर यहाँ पर दोनों ओर के विचारकों के द्वारा जो 'ही' का प्रयोग किया जाता है, मैं समझता हूँ, यह 'ही' वह शब्द है, जो जैन-धर्म की भावना पर सीधा प्रहार कर जैन-दर्शन को चोट पहुँचाता है । भारतवर्ष मे जैन-धर्म हजारों वर्षों से जिस अनेकान्तवाद, समन्वयवाद और अपनी गम्भीर विचार-धारा के द्वारा हजारों लाखों को प्रकाश देता चला आया है, उसकी उस गौरवमयी ज्ञान-धारा को यह 'ही' निकम्मी क़रार देता है। जब प्रसंग आ गया है तो मैं आपको स्पष्ट शब्दों में बतलादूं—जैन-धर्म के दर्शन में सर्वदा और सर्वत्र आपको 'भी' का प्रयोग दिखलाई देगा 'ही' के वहाँ पर दर्शन भी नहीं होंगे। बहुत मोटी सी बात है,

जब जैन-धर्म सत्य को लेकर आगे बढ़ता है तो वह किसी भी बात पर 'ही' का प्रयोग कर सत्य की अवहेलना क्यों करेगा। वास्तव में, जहाँ पर 'ही' है, वहाँ सत्य की उपासना नहीं हो सकती। इस प्रकार वहाँ तो हम एकान्त-आग्रह लेकर खड़े हो जाते हैं—और इस तरह अपनी मान्यता को महत्व देते हैं तथा दूसरों की धारणा को ठुकराते हैं। तो, अगर हम ठीक ढंग पर सोचें तो ज्ञात होगा कि जैन-धर्म 'ही' में नहीं 'भी' में है। जहां 'भी' है, वहीं जैन-धर्म है। सत्य की उपासना भी है।

तो, यह बात अब हमारी समझ में भली प्रकार से आ जाती है कि जैन-धर्म व्यक्ति को भी स्वीकार करता है और उसके समूह को भी! उसने व्यक्ति को भी माना है और उसके समाज को भी! उसकी दृष्टि में मनका का भी मूल्य है और माला का भी! तो, जैन-दर्शन को आधार मानकर अगर हम इस प्रश्न का उत्तर देना चाहते हैं तो हमको व्यक्ति का भी मूल्यांकन करना होगा और समाज का भी! क्योंकि जैन-धर्म की दृष्टि में व्यक्ति का भी महत्व है और समाज का भी।

यह युग जो चल रहा है, इसमें व्यक्ति का महत्व बहुत बढ़ गया है। यह बात सत्य है कि वह आज से ही नहीं बढ़ा है और न एकदम ही बढ़ा है—दो-सौ, तीन-सौ, पाँच-सौ, न मालूम कितनी शताब्दियों से व्यक्ति की प्रतिष्ठा बराबर होती चली आ रही है और इस युग में व्यक्ति अब आकर इतना बड़ा हो गया है कि उसने समाज को ढक लिया है। सारा समाज उसके भीमकाय शरीर के पीछे छिप गया

है और समाज का मूल्य बहुत घट गया है। तो जब व्यक्ति को समाज के द्वारा इतनी महत्ता मिली है, उस पर लगातार और श्रद्धापूर्वक भक्ति के इतने अधिक फूल चढ़ाये गये हैं तो अब आकर यह आवश्यकता भी उत्पन्न हो गई है कि व्यक्ति अपनी बुराइयों को भी टटोल कर देखे। जैन-धर्म आपके सम्मुख अपनी इस भावना को रखना चाहता है कि आप जब अपने जीवन में प्रवेश करें तो अपनी बुराई और अच्छाई दोनों को परखें। आप मालूम करें कि आपके हृदय के किस कोने में राम बैठा है और किस कोने में रावण। रामायण की इन दो धाराओं में से आप किस धारा के अधिक नजदीक हैं और किस धारा से बहुत दूर। आपके हृदय में राम गौरवशाली रूप में विराजमान है या रावण बैठा हुआ है।

मगर आपको यह तभी ज्ञात होगा जब आप देखने की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करेंगे ?—ठीक, उस डॉक्टर के समान, जो ज्ञान-प्राप्ति के हेतु, सामने रक्खे हुये शव की निर्दयतापूर्वक चीर-फाड़ करता है। तो, आप भी जीवन के शव को सामने रख कर उसकी छान-बीन निर्दयतापूर्वक कीजिये। जिस जीवन में कूड़ा-कर्कट अधिक इकट्ठा हो जाता है, वह जीवन बदबू देने लगता है—तो, उस कूड़े-कर्कट को साफ करो। जो गलत चीज आप में आ गई है, उसे दूर हटा दो। बदबू से भरे हुए जीवन का इस संसार में कोई मूल्य नहीं है। तो, गंदगी में पड़े-पड़े यों कीड़े—मकोड़ों की तरह रेंग-रेंग कर जीवन समाप्त किया तो जीवन धारण करने से

क्या लाभ हुआ । इसलिये जीवन को साफ करके स्वयं भी चमको और उस सत्य के प्रकाश से दूसरों को भी चमकने दो। संसार में जितनी दूर भी अपने उस प्रकाश को फैला सको, जरूर फैलाओ और इस प्रकार लोगों को समझाओ कि जीवन का मूल्य यह है। सत्य के आलोक में चारित्र-बल की सहायता से, चमचम कर चमकने के लिये ही तुमने यह जीवन पाया है—तो, बुराइयों को उसका अंग मान कर उसे नष्ट करने का प्रयत्न मत करो।

शास्त्रों की यह शिक्षा, उनका यह कथन तुम्हारे लिये भी है और अन्य सभी के लिये भी। तो, इन शब्दों में यह भावना तो कहीं पर भी दिखलाई नहीं देती कि कोई अपने व्यक्तित्व को समाज से अलग रख कर देखने का प्रयत्न करे। कोई यह सोचे भी कि समाज में फैली हुई बुराइयाँ उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकतीं। उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकतीं। किसी व्यक्ति का यह सोचना तो ऐसा है जैसे वह समुद्र में गोता लगा कर बाहर निकलने पर सूखा रह जाने का स्वप्न देखे। जब चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ हो तो उसका पैर बिना सने कैसे रह सकता है। वह इस बात का दावा किस प्रकार कर सकता है कि कीचड़ की उस गन्दगी ने उसे छुआ ही नहीं। उसके पैर में वह लगी ही नहीं।

कोई चमत्कार तो उसके पास है नहीं जो वह यह कर दिखाये। जब एक साधारण प्राणी के समान ही वह भी इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ है, समाज के व्यवहारों को मानते हुए

अपना जीवन यापन कर रहा है और जीवन का प्रत्येक क्षण समाज के संग में व्यतीत हो रहा है तो उसका फिर यह कहना कि समाज की बुराइयाँ उसे नहीं छू पा-रही हैं, समाज में फैली बुराइयों से उसका कोई वास्ता नहीं है — उसके दम्भ और पाखण्ड के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। तो, सत्य यह है कि अगर समाज अच्छा है तो उसे अच्छा प्रकाश मिल रहा है और अगर बुरा है तो बुरा। यह हो सकता है कि किसी व्यक्ति को इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव न होता हो; मगर परोक्ष मे वह इससे अछूता नहीं रह सकता। तो, ऐसे व्यक्ति को इस सत्य का ज्ञान तब होता है जब प्रत्यक्ष रूप से न दिखलाई देने वाले रोग के कीटाणुओं के समान समाज की बुराइयो के कीटाणु भी एक दिन यकायक उस पर भयंकर रूप से हमला कर बैठते हैं। और ऐसे उस व्यक्ति को तब अनुभव होता है कि वह जीवन-क्षेत्र के किस कोने में विचरण कर रहा है और तभी वह यह जान पाता है कि उसके जीवन में भी समाज का, संघ का, सामूहिक जीवन का कुछ मूल्य है। वह उससे अलग नहीं है। वह भी उसका एक अंग है।

सम्भव है किसी समय कोई व्यक्ति धन के बल पर या ऊँची जाति मे जन्म लेने के कारण अथवा शासकीय विभाग में किसी ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होने की वजह से एकाकी रूप में कुछ आगे बढ़ जाय और इसीलिये वह स्वयंभू बनने का दावा करे तो उसका यह दावा भी निरर्थक और निकम्मा है—क्योंकि कुछ ही समय

बीतने पर, जब उसका यह अहम् अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचेगा तो उसको ले-डूबेगा। कोई बहुत छोटी-सी घटना ही उसके इस अभिमान को चूर-चूर कर क्षण-भर में ही उसे वास्तविक स्थिति में लाकर खड़ा कर देगी।

तो, जैन-धर्म ही क्या, संसार का कोई भी धर्म किसी भी व्यक्ति के इस तरह बढ़ने के रूप को स्वीकार नहीं करता। उसे प्रतिष्ठित नहीं मानता। और अगर संसार में कोई ऐसा धर्म है, जो व्यक्ति के इस प्रकार के अहम् को स्वीकार करता हो तो उस धर्म के सम्बन्ध में मैं बहुत ही नम्रता से कहूँगा कि वह धर्म, धर्म की मर्यादा के अन्तर्गत नहीं है। वह धर्म नहीं है। वह किसी स्वार्थ-परायण व्यक्ति का प्रलाप-मात्र है, जो किसी कारण कुछ काल के लिये इस पृथ्वी पर पनप गया है और शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा।

किसी विशेष जाति में जन्म लेने के कारण अथवा किसी धन-कुबेर के यहाँ उत्पन्न होने की वजह से या स्वयं ही धन या उच्च-पद प्राप्त कर लेने पर कोई व्यक्ति प्रतिष्ठित नहीं माना जा-सकता। व्यक्ति के विषय में जैन-धर्म इसी तथ्य या सत्य को स्वीकार करता है। जैन-धर्म इस सम्बन्ध में संसार के सम्मुख एक विशेष और महत्वपूर्ण सन्देश उपस्थित करता है। उसका कहना है कि संसार की सभी आत्माओं में एक ही चेतन तत्व प्रस्फुटित हो रहा है। उनमें कोई भी भेद नहीं है। जो-कुछ भी भेद है, वह जीवन के आचरण का है। अगर कोई मनुष्य सत्कर्म करता है

तो वह जाति, जिसमें उसने जन्म लिया है, कितनी ही नीची क्यों न समझी जाती हो, तो भी वह उच्च है। और यदि किसी जाति के व्यक्तियों के आचरण शुद्ध नहीं हैं तो वह जाति चाहे कितनी ही भी धनवान और ऊँची क्यों न मानी जाती हो, वह धर्म की दृष्टि में उच्च नहीं हो-सकती। कम-से-कम जैन-धर्म तो इस बात को इस रूप में स्वीकार नही कर सकता।

जैन-धर्म तो व्यक्ति के आचरण पर जोर देता है। वह जाति के बन्धन को स्वीकार नहीं करता। सत्कर्म को राह पर चलने वाले सभी व्यक्ति जैन-धर्म के आंगन में बिना किसी भेद-भाव के खड़े होने का अधिकार रखते है। खड़े होते हैं। इस महान् मन्दिर के सिंह-द्वार पर जब कोई प्रवेश पाने के लिये आता है तो उससे यह नहीं पूछा जाता कि वह किस जाति का है अथवा किसी विशेष जाति में जन्म लेने पर ही वह इस द्वार में प्रवेश पा-सकता है। और अगर द्वार पर खड़ा हुआ कोई साधु या श्रावक प्रवेश करने के लिये उस इच्छुक व्यक्ति से यह प्रश्न करता है तो मैं कहूँगा कि उस साधु या श्रावक ने जैन-धर्म के मूल को जाना ही नहीं है। उसकी भावना को समझा ही नहीं है। अभी तक वह साधु या श्रावक दुनिया के धंधे में ही उलझा हुआ है और उसने जैन-धर्म के मर्म को स्पर्श ही नहीं किया है।

तो, जैन-धर्म के द्वार पर यह नहीं पूछा जाता कि तुम्हारी जाति क्या है। तुम्हारे पास धन का भंडार है या नहीं। तुम सिंहासन पर बैठने वाले हो या सड़क पर झाड़ू देने वाले। इसके

विपरीत द्वार पर खड़ा हुआ साधु या श्रावक प्रवेश पाने के इच्छुक उस व्यक्ति से पूछता है—ओ भद्र! क्या तुम अपने जीवन को बनाना चाहते हो? अपने जीवन का निर्माण करना चाहते हो! तुम्हारे जीवन की जो चमक दबी पड़ी है, क्या उसको तुम प्राप्त करना चाहते हो? तुम धर्म के इस क्षेत्र में आना चाहते हो तो क्या तुम इसके लिये पूर्ण रूप से तैयार हो? तुम ठीक रूप में इसे ग्रहण कर सकोगे? और अगर साधक कहता है, मैं ग्रहण कर सकता हूँ—तो, उस साधक के लिये धर्म के मन्दिर का वह द्वार अनन्त काल तक खुला हुआ है। खुला रहेगा। किसी भी धनवान या जाति के कारण उच्च बनने वाले भाई का यह साहस नहीं है कि उस साधक के लिये वह द्वार को बन्द करदे। इसलिये जो व्यक्ति जाति की पवित्रता और अपवित्रता के नाते, सिंहासन और ऊँचे महलों के कारण अथवा अपने व्यक्तित्व की क्षमता को बतलाते हुए अपनी उच्चता समझता है, उसके नशे में चूर रहता है, वह बुद्धू नहीं है तो और क्या है! जिसकी दृष्टि में जीवन की पवित्रता का कोई मूल्य ही न हो, वह वज्र-मूर्ख नहीं है तो क्या है!

एक बार जैन-धर्म के एक आचार्य ने अपनी आवाज़ बुलन्द कर कहा था—और उनकी वह वाणी इतनी मर्म-स्पर्शी थी कि जो आज भी हृदय को छूती है। उन्होंने कहा था—

" अवन देश जाया अवनागार वड्डिय सरीरा।
जे जिण धम्मपवन्ना, सव्वे ते बन्धवा भणिया॥ "

कोई भी धर्म किसी देश-विशेष की सीमाओं में क़ैद नहीं होता है। समूचे विश्व में वह संचरण करता है। वास्तव में, सारे संसार को एक इकाई के रूप में देखने वाला धर्म संसार की भौगोलिक या राजनैतिक सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और चौड़े तथा तीव्र गति से बहने वाले नदी-नाले धर्म की स्वच्छन्द गति में रोक नहीं लगा सकते। प्रत्येक धर्म की दृष्टि में समूचा विश्व एक है—और जब समूचा विश्व एक है तो विश्व में रहने वाले फिर दो किस प्रकार हो सकते हैं। इसीलिये जैन-धर्म एक को दो के रूप में नहीं देखता। उसकी नज़रों में सारा मानव-समाज एक है—फिर, कोई व्यक्ति चाहे किसी भी देश में उत्पन्न हुआ हो, चाहे किसी भी क़ौम की मां की गोद में खेल-कूद कर बड़ा हुआ हो, जैन-धर्म को इस बात से कोई मतलब नहीं है, कोई सम्बन्ध नहीं है।

उपर्युक्त पंक्तियों मे आचार्य स्पष्ट भाषा में कहते हैं—तुमने चाहे किसी भी देश में जन्म लिया हो, कहीं भी तुम बड़े हुए हो, किसी भी जाति की माता की गोद में तुम खेले हो, चाहे जन्म से ही ऊँची समझी जाने वाली जाति में जन्म लेकर इस संसार में विद्यमान हो या निम्न जाति में तुमने जन्म लिया हो,—जैन-धर्म को इन बातों से कोई सरोकार नहीं है। यदि शुद्ध जैनत्व की छाया तुम्हारे जीवन के किसी कोने को स्पर्श कर-पारही है, तुम राग, द्वेष आदि पर विजय प्राप्त करने के लिये जीवन-पथ पर आगे बढ़ चले हो—ठीक उस सिपाही की भाँति जो जीवन की

बाजी लगाकर भी अपने गौरव की रक्षा करना चाहता है—तो, तुम में और उन भाइयों में कोई अन्तर नहीं है, जो इसी मार्ग के पथिक हैं, जो इसी ओर के रण-बाँकुरे हैं।

इस समय मैंने आपको वही बात बतलाई है, जो कभी भगवान् महावीर ने कही थी। भगवान् की उस दिव्य-वाणी को मैंने आपके सम्मुख गाया है; मगर मैं यह नहीं जानता कि आप में से कितने भाइयों के हृदय पर प्रभु की यह वाणी अपना प्रभाव डाल सकी है। आप में से अनेक ऐसे भाई होंगे, जिन्होंने अब तक अनेक शास्त्र पढ़े होंगे अथवा सुने होंगे—इसलिये उनके विचार भी बहुत ऊँचे होंगे; मगर ऐसे कितने भाई हैं, जो आचार की भूमिका में भी शुद्ध रूप से आगे बढ़े हों। किसी बात को मान लेना और उसे दूसरों के सम्मुख रख देना तो बहुत आसान है; मगर उसे व्यवहार में ले-आना बहुत कठिन। यों इस देश में दर्शन के पंडित तो अनेक मिल जायेंगे; मगर उसे जीवन के व्यवहार में उतार लेने वाले बहुत कम। वास्तव में, सत्य की महत्ता का गान करने में तो हम बहुत चतुर हैं; मगर उसे बरतने में मुर्दे जैसे हो जाते हैं।

मैं देखता हूँ, समवसरण लगता है। बड़ी-बड़ी सभायें होती है। सभाओं में बड़े-बड़े महाजन आते हैं और आगे की जगह रोक कर बैठ जाते हैं। तब कोई हरिजन आता है और प्रवचन भली प्रकार से सुनने की इच्छा से अगर आगे बैठने की कोशिश करता है तो वे महाजन वहाँ उसे बैठने नहीं देते। तो, मैं उन

महाजनों से पूछता हूँ—क्यों ? जब वह हरिजन पूर्ण रूप से धर्म का पालन करने वाला है, बराबरी की सामायिक करने वाला है, मद्य-पान नहीं करता है, माँस नहीं खाता है और जीवन में उन्नति की ओर बराबर आगे बढ़ रहा है—तो, क्या वह आपकी पंक्ति में बैठने योग्य नहीं है ?

इसीलिये तो मुझे उन भाइयों की बातें बड़ी अटपटी लगती हैं, जो मुझसे कहते हैं कि जैन-धर्म का प्रचार विदेशों में भी होना चाहिये। वह बहुत छोटा हो गया है। उसका विस्तार सभी देशों में होना चाहिये। तो, इस तरह आप विदेशों की बातें तो करते हैं; मगर घर का कूड़ा-कर्कट साफ नहीं करते। जिसका हाजमा ही ठीक नहीं है, जो मामूली-सी ख़ूराक भी नहीं पचा सकता, वह अगर सोने का कुश्ता खाये तो क्या लाभ ? वह सोने का कुश्ता उसके किसी भी काम नहीं आ सकता। ज़रा सोचिये, वह उसे नुक़सान पहुँचायेगा या लाभ करेगा।

तो, पहिले अपने हाजमे को दुरुस्त करने की बात है। जब आप अपने समीप में रहने वाले के लिये भी यह सोचते हैं कि इसे कहाँ बिठायें—तो, दूर वाले के लिये तो आपको बहुत-कुछ सोचना पड़ेगा। जो जैन-धर्म के आँगन में आ गया है, उसे आप इन्सान समझ कर इन्सान के बैठने-लायक जगह भी नहीं दे सकते—तो, मैं कहता हूँ कि आप जैन-धर्म को जानते ही नहीं। उसे पहिचानते ही नहीं। अगर किसी व्यक्ति का जन्म एक हरिजन के घर में हुआ है तो क्या वह आपके पास में बैठने योग्य नहीं

है। तो, इस तरह तो आप उसके जन्म को महत्व देते हैं, उसके कर्म के स्वरूप को नहीं आँकते हैं। आप तो उसके हड्डी-माँस के पिंड की चिन्ता करते हैं, उसकी आत्मा को स्पर्श नहीं करना चाहते। और इस प्रकार भगवान् महावीर की वाणी का भी आप अनादर करते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान् ने क्या कहा है—क्या आप जानते हैं—

"कम्मुणा बम्हणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होव सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

ब्राह्मण जन्म से नहीं, कर्म से होता है और क्षत्रिय भी जन्म से नहीं, कर्म से होता है। वैश्य भी कर्म के कारण ही वैश्य कहलाता है। तो, कोई भी ब्राह्मण जन्म से ही जनेऊ पहन कर नहीं आता और न ऋग्वेद का ज्ञाता बनकर ही पैदा होता है। इसी प्रकार कोई भी क्षत्रिय सोने का सिंहासन अपने साथ बाँध-कर नहीं लाता। न कोई वैश्य ही अपने साथ व्यापार की सामग्रियाँ जुटाकर लाता है—तो, जन्म के कारण किसी व्यक्ति को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मानना निरर्थक और गलत है। इसीलिये किसी भी व्यक्ति के कर्मों को देखना ही श्रेयस्कर और उचित है। इस विषय में कबीर ने जो-कुछ कहा, वह भी सुनो—

तुम कत बहामन, हम कत सूद।
हम कत लोहू, तुम कत दूध॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद मेरी समझ में नहीं

आता। जो रक्त ब्राह्मण के शरीर में बहता है, वही ख़ून शूद्र के शरीर में भी प्रवाहित होता है। किसी भी ब्राह्मण के शरीर में मैंने रक्त के स्थान पर दूध बहते हुये नहीं देखा। न ब्राह्मण के शरीर में हड्डियों के स्थान पर सोने-चाँदी की शलाकाएँ ही प्रयोग में लाई गई हैं। उन्ही पंचतत्वों के योग से ब्राह्मण का शरीर निर्मित हुआ है और उन्हीं से शूद्र का! एक ही प्रकार के हाड़, मांस और रक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के शरीर-निर्माण में काम में आये हैं। तो, कर्मों के कारण मनुष्यों में ये भेद होगये हैं, न कि जन्म के कारण! जन्म से तो सब ही एक हैं—केवल मानव!

तो, मैं चाहता हूँ, आप विचार कर यह देखने का प्रयत्न करें कि आप कहाँ हैं। अपने ऐसे विचार रखकर तो आप भारतवर्ष के अध्यात्म पर चोट कर रहे हैं। जो भारत कर्म का नारा बुलन्द कर इतना ऊँचा चढ़ा था, प्रगति के पथ पर इतना आगे बढ़ गया था, उसे आप पतन के गढ़हे की ओर क्यों ले-जारहे हैं। इसलिये आप यह जानने का प्रयत्न कीजिये कि आपकी आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है। जो, विराट-मानव-जाति आपके सम्मुख इधर से उधर चक्कर काट रही है, उसके प्रति भी आपकी कुछ जिम्मेदारी है या नहीं? कोई जवाबदेही है या नहीं? आप अपने जीवन को ही यह संसार मानकर चल रहे हैं या कभी यह भी सोचते हैं कि आप तो संसार-रूपी इस विराट् मशीन के एक पुर्जे हैं। आप भी

अपने केन्द्र पर घूम रहे हैं और इस प्रकार आप स्वयं भी गति प्राप्त कर रहे हैं और अपने यन्त्र को भी गति दे रहे हैं। इस तरह आप अपने यन्त्र को गति देते भी हैं और उससे गति लेते भी हैं और गति लेने-देने के लिये आप जिस मोर्चे पर भी खड़े हैं तो यही सोचकर खड़े हैं कि यह विराट्-संसार एक बहुत बड़ा यन्त्र है और मैं उस बडे यन्त्र का एक छोटा-सा पुर्जा-मात्र हूँ।

यदि इस सम्बन्ध में आपका यह अध्ययन है, यह चिन्तन है तो मैं समझता हूँ कि आप जैन-धर्म को भली-प्रकार से जानते हैं। उसे अच्छी तरह से समझते हैं। जैन-धर्म यदि व्यक्ति को महत्व देता है तो उसके समूह को भी वह उतनी ही महत्ता प्रदान करता है। वह व्यक्ति तथा उसके समाज दोनों के ही उत्थान का हामी है। वह व्यक्ति का भी कल्याण चाहता है और समूची मानव-जाति का भी। वह सोचता है, कोई भी आत्मा पतन की ओर क्यों जाये ? अगर पतन के गढ़हे में गिर भी गई है तो वहीं पर पड़ी-पड़ी क्यों कराहती रहे। संसार की प्रत्येक आत्मा को वह उन्नति के शिखर पर देखने का अभिलाषी है। पापी से पापी के लिये भी उसके यही विचार हैं। वह सोचता है, किसी का आचरण अपवित्र हो सकता है; मगर उसकी आत्मा तो पवित्र है। सोने के पात्र में यदि शराब भरी है तो क्या वह सोने का पात्र अपवित्र है ? और वह इस प्रश्न का उत्तर नकार में देता है। उसकी दृष्टि में पात्र अपवित्र नहीं हो सकता। कल उसमें दूध भी भरा जा सकता है। और वह सोने का पात्र फेंका

नहीं जा सकता। फैंका भी नहीं जाता।

आप प्रतिदिन के अपने जीवन में देखते हैं कि आप एक पैसा भी नहीं फैंक सकते—तो, सोने के बने उस पात्र की तो बहुत क़ीमत है। एक समय मैं विहार कर रहा था। मार्ग में मैंने देखा—एक ग़रीब आदमी, एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ, लोगों से पैसा माँग रहा है। मेरे सामने ही उधर से कई व्यक्ति निकले और आगे बढ़ गये; मगर उसकी ओर किसी ने आँख उठा कर भी न देखा। तभी, वहाँ पर एक ताँगा आया और उसमें बैठी हुई किसी सवारी की दुअन्नी, चवन्नी या अठन्नी सड़क पर गिर गई—तो, उसी वक्त ताँगा रुकवाया गया और उस सिक्के को ताँगे में से उतर कर उठाया गया, फिर, बड़े प्रेम के साथ उसे जेब में रख लिया गया। ताँगा आगे बढ़ गया—तो, मैंने सोचा-एक सिक्का, जो अठन्नी या चवन्नी के रूप में है, वह इतना महत्वपूर्ण है कि उसके लिये ताँगा रुकवाया जा सकता है, तांगे से नीचे उतरा जा सकता है और उसे बड़े प्रेम के साथ उठाकर जेब में रक्खा जा सकता है; मगर समस्त मानव जाति का एक सिक्का, जो वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ है, उसके लिये न तांगा रुक सकता है, न उतर कर उसे देखने की कोशिश हो की जा सकती है। फिर, उसे आदर देने की बात तो बहुत दूर की है, बहुत बड़ी है। तो, इस बात पर जब हम ध्यान देते है तो यह सत्य हमारे सम्मुख स्पष्ट हो जाता है कि आज कल संसार मे सभी चीजों का मूल्य बढ़ रहा है; मगर अकेला इन्सान ही ऐसा है, जिसकी क़ीमत

दिन-प्रति-दिन गिरती जा रही है।

तो, इन्सान की क़ीमत अगर बढ़ानी है तो यह आवश्यक है कि उसके समूह के मूल्य को समझा जाये। अगर समूह के मूल्य को समझ लिया जायेगा तो लोक-कल्याण की भावना आपके हृदय में जाग उठेगी और समस्त मानव जाति का मूल्य बढ़ जायेगा। तो, विश्व-कल्याण की पवित्र भावना से ओत-प्रोत आपका मन शुद्ध जैनत्व का स्पर्श करेगा और आप मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़ चलेंगे।

जब जैन-संघ के निर्माण का प्रश्न आता है तो मैं देखता हूँ कि उसमें पुराने लबादे को ओढ़े हुए ही लोग आते हैं और संघ क़ायम कर लेते हैं। तो, ऐसे लोगों से समाज का क्या भला हो सकता है और होता भी नहीं है। इसीलिये समाज में कोई प्रकाश और चमक उत्पन्न नहीं होती है और प्राण नहीं आते हैं—तो, संघ क़ायम करने पर भी जब समाज में किसी स्फूर्तिदायक नवीन चेतना का प्रकाश नहीं फैल पाता, नई चेतना का जागरण नहीं होता—तो, ऐसा संघ क़ायम करने से क्या लाभ? जब दस-पाँच आदमियों के मिलकर एक हो जाने पर उनकी शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह संसार-भर की काया-पलट कर सकती है तो हज़ारों की शक्ति में इतना बल क्यों नहीं होता कि वे विश्व का कल्याण कर सकें। संसार को कल्याण के पथ पर आगे बढ़ा सकें। तो इस प्रश्न का उत्तर मैं केवल इन्हीं शब्दों में दे सकता हूँ कि जब तक उन पुराने क़ोटों और लबादों से

आपका मोह नहीं छूटेगा, पाँच-सौ-चार सौ वर्षों से चले आने वाले आपके संस्कार नहीं बदलेंगे, तब तक समाज में किसी भी नवीन चेतना का प्रादुर्भाव नहीं होगा। समाज में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव नहीं होगा तो संघ विश्व को कल्याण के पथ पर अग्रसर करने में भी असमर्थ ही रहेगा। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि आप नये विचार और नवीन चेतना लेकर संघ को बनाएँ और उसमें शामिल हों।

एक दिन एक सज्जन मुझे मिले और वैरागी के रूप में मिले। साधु बनने के उम्मीदवार बन कर मिले। और कहने लगे—'महाराज! संसार का अनुभव मैंने कर लिया, कहीं भी इस संसार में सुख नही, इसके विपरीत समूचा संसार दुख का केन्द्र-स्थल है। इसलिये अब तो गुरू के चरणों मे पड़े रह कर प्रभु से लौ लगानी है।' उस समय मेरे साथ मे और भी सन्त थे-तो, उनमें से एक सन्त से मैंने कहा—'वैरागी तो क़ीमत वाला मिला है।' और मेरी इस बात को सुन कर मेरा साथी सन्त उस वैरागी से बोला—'तो, दीक्षित होने के लिए तैयार हो? दूसरे साधु तो इस शुभ कार्य के लिये भी मुहूर्त देखते हैं; मगर मैं इस चक्कर में नहीं पड़ता। यहाँ पर तो प्रत्येक क्षण द्वार खुला हुआ है—कोई भी किसी भी क्षण प्रवेश करे। हम तो समझते हैं—जब जागे तब भया सवेरा!'

और उस सन्त की इस बात को सुन कर वह वैरागी कहने लगा—'महाराज! मेरे पास एक छोटी सी दूकान है, पहिले उसे

बेच दूँ और तब आपके पास आऊँ तो ठीक रहेगा।'

मगर मैं बोला—'जब तुम संसार को ही छोड़ रहे हो तो उस दूकान से ही क्यों—मोह करते हो। उसे किसी दूसरे को यूँ ही सँभलवादो और चले आओ।'

तो, वह कहने लगा—'महाराज जी! दो चार हजार रुपये मुझे उससे मिल जायेंगे—तो, उन रुपयों को मैं बैंक में जमा कर दूँगा—और तब आपके पास आऊँगा। न जाने, बाद में कैसी मति बने।'

और उसकी इस बात को सुन कर मैं सोचने लगा—वह समझता है कि साधुत्व को पालन करना एक टेढी खीर है। खांडे की धार पर चलने के समान है—इसीलिये वह सोचता है, अगर इसका पालन न हो-सका तो वह अपनी पुड़िया को सँभाल तो भी लेगा। देखिये, ये हैं, वे साधु—जो साधना के क्षेत्र में आज-कल आ रहे हैं। वास्तव में, इन लोगों के लिये ससार की सभी वस्तुयें खारी नहीं हैं—केवल मनुष्य ही खारे हैं। माता-पिता, भाई, स्त्री, बाल-बच्चे और पास-पड़ौसी ही लवण-समुद्र के समान हैं; मगर रुपये मीठे ही हैं। साधना का क्षेत्र कठिन-कठोर जान पड़ा, उसकी कठोरता न सह सके तो भाग तो भी जायेंगे और बैंक में जमा रुपयों की सहायता से फिर दुनियावी बन जायेंगे। तो, पहिले से ही भागने की इच्छा रखने वाले सिपाही से देश का, धर्म का क्या गौरव बढ़ सकता है! अन्तर्द्वन्दों से घबड़ा जाने वाले साधु से साधना का मार्ग किस प्रकार तय हो-सकता

है। वीरों का कौल तो कुछ दूसरा ही होता है—

पुरजा-पुरजा कटि मरै, तोऊ न छाडे पैंड।

रण-क्षेत्र में जूझते हुये चाहे शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाँय; मगर बाँके-वीर रणभूमि से भागते नहीं। भारतवर्ष के सिपाही ने सर्वदा अपनी इस आन की रक्षा की है और देश के मस्तक को ऊँचा उठाया है। एक दिन एक भाई मुझसे पूछने लगे—'महाराज जी! संघ का निर्माण तो होरहा है; मगर यह चलेगा भी? कहीं कुछ ही दिनों के बाद टूट तो नहीं जायेगा।' तो, मैंने उस भाई से उसके इस प्रश्न के उत्तर में कहा—'एक बच्चा जन्म लेता है; किन्तु कौन जानता है कि वह जियेगा या मरेगा। जियेगा तो कितने दिनों तक जीवित रहेगा और मरेगा तो कब मरेगा। इसीलिये किसी को भी यह मालूम नहीं कि संघ क़ायम रहेगा या टूट जायेगा। मगर अभी तो प्रत्येक भाई को ठीक रूप में ही उसका मूल्यांकन करना चाहिये।'

जब भारतवर्ष की संस्कृति आपसे कह रही है—हज़ारों वर्षों के बाद क्या होगा? अगले ही क्षण क्या होगा—कौन जानता है? एक सांस आगई तो दूसरी आयेगी या नहीं—किसको पता है? तो, जब इतने और ऐसे बड़े वैराग्य की बात भारतवर्ष की संस्कृति आपसे बार-बार कह रही है; मगर आप तब भी जीवन की सभी समस्याओं को हल करते चले जा-रहे हैं। एक मकान के पश्चात् दूसरा मकान खड़ा करते चले जारहे हैं और इस सत्य को वहाँ पर टटोलकर भी नहीं देखते—तो, संघ के विषय में भी

आप ऐसी धारणा मन में क्यों लाते हैं। आज संघ का और संघ की परम्पराओं का जो रूप है, वह कल क्या होगा, हजार वर्षों के बाद क्या होगा, इस पर सोचना ही क्या ? यह तो भगोड़ों की नीति है, वीर-श्रेष्ठ ऐसी बातें नहीं सोचा करता।

वीर-श्रेष्ठ तो अपने कर्त्तव्य का पालन करना जानता है—तो, आप भी अपने कर्त्तव्य का पालन कीजिये। भगोड़ों की तरह छिपने का स्थान खोजना कायरता है, इसलिये उस ओर मत जाइये। और महान् आचार्य की वाणी में, उनके दिव्य-सन्देश में आपका कर्त्तव्य है—

मा, भ्राता, भ्रातरम् द्विक्षन्।
मा स्वसारमुत स्वसा......॥

भाई, भाई से द्वेष न करे। बहिन, बहिन से द्वेष न करे। उनका गमन एक-साथ हो, उनका बोधना एक साथ हो, उनका चिन्तन और मनन एक साथ हो। और जिनका चलना एक-साथ होरहा है, जिनका बोधना एक साथ होरहा है और केवल चलना और बोधना ही नहीं; किन्तु मन में चिन्तन भी जिनका एक साथ होरहा है। जो परस्पर एक-दूसरे का सत्कार करते हैं, एक दूसरे का सन्मान करते हैं और इस प्रकार एक-दूसरे की प्रतिष्ठा पर आँच नहीं आने देते हैं। जो पुत्र, जीवन के क्षेत्र में, पिता के गौरव की रक्षा करता है, पिता, पुत्र की रक्षा करता है, पुत्र-पुत्रिएँ माता के गौरव की रक्षा करती हैं, बड़े भाई छोटे भाई की इज्जत में चार-चाँद लगा देते हैं और छोटे भाई सर्वदा बड़े भाई को

पूजते हैं और जिनकी क्षमता इतनी बढ़ जाती है कि स्वयं भूखे रह कर मा-बाप, भाई-बहिन, पत्नि-पुत्र और पड़ौसी को भूखा नहीं रहने देते। गर्मी-सर्दी की कठिनाई को स्वय सह कर अन्य सभी को उसका अनुभव भी नहीं होने देते, स्वयं जहर का प्याला पी लेते हैं; मगर संगी-साथी को उस विष का साक्षात्कार भी नहीं होने देते—तो, ऐसे व्यक्तियों का वह समाज, देश जरूर आगे बढ़ेगा और संसार को भी कल्याण के पथ पर आगे बढ़ायेगा।

भारतीय साहित्य की एक पुरानी कहानी पढ़ रहा था। वह कहानी अच्छी लगी। कहानी थी—एक दिन लक्ष्मी जी कहीं जा रही थीं, मार्ग में उनसे इन्द्र की भेट हो गई। और इन्द्र ने लक्ष्मी जी से पूछा—'देवि! आज कल तुम्हारा निवास कहाँ पर है?' तो, जानते हो, इन्द्र के इस प्रश्न के उत्तर में लक्ष्मी जी ने क्या कहा? उन्होंने कहा—'जिस परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म-संघों में गुरुजनों की पूजा होती है, उनका यथोचित सम्मान-सत्कार होता है तथा जिस परिवार, समाज और राष्ट्र के लोग जब परस्पर बातें करते हैं तो सभी की वाणी में अमृत छलकता रहता है, सभी के मुखों से मीठी वाणी के फूल झड़ते रहते हैं, एक दूसरे को कोई घृणा की दृष्टि से नहीं देखता है, किसी का कोई तिरस्कार नहीं करता है, ऐसा करने की भावना भी मन में नहीं लाता, प्रेम और स्नेह ही जहाँ पर एक दूसरे से एक दूसरे को मिलता है, छोटी-छोटी चीजों की तो बात ही क्या है, जहाँ बड़ी-

बड़ी वस्तुयें भी सरलतापूर्वक एक-दूसरे को अर्पण कर दी जाती हैं-इन्द्र, मेरा निवास वहीं पर होता है, मैं सर्वदा वहीं पर रहती हूँ।'

और एक दिन भारतवर्ष ऐसा ही देश था, जहाँ पर लक्ष्मी का निवास-स्थान स्थायी रूप से बन गया था। भारतीयों की ऐसी ही जीवन-साधना के कारण उनसे लक्ष्मी कौल हारती थी। इसीलिये उनकी विजय-पताका सारे संसार में फहराती थी। यही कारण है जो एक बार एक आचार्य ने कहा था—

"एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः।
स्वं स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः॥

भारतवर्ष की इस भूमि में जन्म लेने वाले सभी इतने पवित्र, सदाचारी और शुद्धात्मा होते थे कि उनके आदर्शमय जीवन को देख कर संसार के लोग चकित रह जाते थे। अपने जीवन का निर्माण फिर वे उन्हीं के पद-चिन्हों पर चल कर करते थे। इसीलिये भारतवर्ष एक दिन समूचे संसार का गुरू बन कर रह गया था। भारतवर्ष के इस प्राचीन गौरव का वर्णन करते हुये हिन्दी भाषा के एक कवि ने कहा है—

सिरमौर-सा तुझको रचा था,
विश्व में करतार ने।
आकृष्ट था सब को किया,
तेरे मधुर व्यवहार ने॥

पूजते हैं और जिनकी क्षमता इतनी बढ़ जाती है कि स्वयं भूखे रह कर मा-बाप, भाई-बहिन, पत्नि-पुत्र और पड़ौसी को भूखा नहीं रहने देते। गर्मी-सर्दी की कठिनाई को स्वयं सह कर अन्य सभी को उसका अनुभव भी नहीं होने देते, स्वयं जहर का प्याला पी लेते हैं; मगर संगी-साथी को उस विष का साक्षात्कार भी नहीं होने देते—तो, ऐसे व्यक्तियों का वह समाज, देश जरूर आगे बढ़ेगा और संसार को भी कल्याण के पथ पर आगे बढ़ायेगा।

भारतीय साहित्य की एक पुरानी कहानी पढ़ रहा था। वह कहानी अच्छी लगी। कहानी थी—एक दिन लक्ष्मी जी कहीं जा रही थीं, मार्ग में उनसे इन्द्र की भेंट हो गई। और इन्द्र ने लक्ष्मी जी से पूछा—'देवि! आज कल तुम्हारा निवास कहाँ पर है?' तो, जानते हो, इन्द्र के इस प्रश्न के उत्तर में लक्ष्मी जी ने क्या कहा? उन्होंने कहा—'जिस परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म-संघों में गुरुजनों की पूजा होती है, उनका यथोचित सम्मान-सत्कार होता है तथा जिस परिवार, समाज और राष्ट्र के लोग जब परस्पर बातें करते हैं तो सभी की वाणी में अमृत छलकता रहता है, सभी के मुखो से मीठी वाणी के फूल झड़ते रहते हैं, एक दूसरे को कोई घृणा की दृष्टि से नहीं देखता है, किसी का कोई तिरस्कार नहीं करता है, ऐसा करने की भावना भी मन में नहीं लाता, प्रेम और स्नेह ही जहाँ पर एक दूसरे से एक दूसरे को मिलता है, छोटी-छोटी चीजों की तो बात ही क्या है, जहाँ बड़ी-

बड़ी वस्तुयें भी सरलतापूर्वक एक-दूसरे को अर्पण कर दी जाती हैं-इन्द्र, मेरा निवास वहीं पर होता है, मैं सर्वदा वहीं पर रहती हूँ।'

और एक दिन भारतवर्ष ऐसा ही देश था, जहाँ पर लक्ष्मी का निवास-स्थान स्थायी रूप से बन गया था। भारतीयों की ऐसी ही जीवन-साधना के कारण उनसे लक्ष्मी कौल हारती थी। इसीलिये उनकी विजय-पताका सारे संसार में फहराती थी। यही कारण है जो एक बार एक आचार्य ने कहा था—

"एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः।
स्व स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः॥

भारतवर्ष की इस भूमि में जन्म लेने वाले सभी इतने पवित्र, सदाचारी और शुद्धात्मा होते थे कि उनके आदर्शमय जीवन को देख कर संसार के लोग चकित रह जाते थे। अपने जीवन का निर्माण फिर वे उन्हीं के पद-चिन्हों पर चल कर करते थे। इसीलिये भारतवर्ष एक दिन समूचे संसार का गुरू बन कर रह गया था। भारतवर्ष के इस प्राचीन गौरव का वर्णन करते हुये हिन्दी भाषा के एक कवि ने कहा है—

सिरमौर-सा तुझको रचा था,
विश्व में करतार ने।
आकृष्ट था सब को किया,
तेरे मधुर व्यवहार ने॥

नव शिष्य तेरे पूज्य भारत,
नित्य आते थे चले।
जैसे सुमन की गन्ध से,
अलिवृन्द आ-आकर मिले॥
विस्तृत धरा पर रहा,
सुर-पूज्य तू ही सर्वदा।
देवत्व, गुरुता, मान्यता,
प्रभुता रही तुझमें सदा॥
यह स्वर्ग-भू थी और इसमें,
स्वर्ग का सुख प्राप्त था।
सब ओर सम्पद् मान औ,
ऐश्वर्य का यश व्याप्त था॥'......

मगर आज भारतवर्ष की यह प्रतिष्ठा कहाँ चली गई? उसका गौरव कहाँ नष्ट हो गया? तो, सोचने पर ज्ञात होता है, भाई ने भाई के गले पर जब छुरी रख दी, और इस तरह जब भाई, भाई को नष्ट करने के लिये तैयार हो गया तो उसका गौरव फिर यहाँ पर न ठहर सका। वह उससे दूर हट गया। दूर चला गया। लक्ष्मी अन्तर्ध्यान हो गई और भारतवर्ष में ग़रीबी का साम्राज्य स्थापित हो गया।

तो, देश की ग़रीबी को दूर करने के लिये पहिले भावना की ग़रीबी को दूर कीजिये। मन के विकार को नष्ट कीजिये। जब मनुष्य के आचार-विचार दरिद्र हो जाते हैं तो उसका गौरव

उससे छीन लिया जाता है। अगर अपने गौरव को वापिस बुलाना चाहते हो, एक बार फिर समृद्धिशाली बनना चाहते हो, तो अब भी भावनाओं में पवित्रता का विकास करो, व्यक्ति ही केवल बड़ा है, ऐसा सोचना छोड़कर उसके समूह को भी महत्ता दो। देश को गौरवान्वित करने के लिये व्यक्ति और उसके समूह दोनों का ही शुद्धात्मा होना आवश्यक है। इसलिये आप अपने स्वजनों, पड़ौसियों आदि सभी को महत्व दीजिये। व्यक्ति से, अधिक उसके सघ को महत्व दीजिये। केवल अपनी सुख-सुविधा के विषय में सोचने के लिये तो बुद्धि से परे जानवर ही बहुत हैं; मगर मनुष्य जब बुद्धिजीवी प्राणी है, उसमें जब सब-कुछ समझ लेने की शक्ति है तो उसे जानवरों से आगे बढ़ कर सोचना चाहिये। मनुष्य है तो अपनी सुख-सुविधा के साथ-साथ सभी की सुख-सुविधा और उत्थान की बात भी सोचनी चाहिये। समाज के उत्थान में आपका उत्थान है और आपके उत्थान में समाज का उत्थान' यदि आप यह दृष्टिकोण लेकर चलेंगे तो आपका और संघ दोनों का कल्याण होगा। और जब दोनों का कल्याण होगा तो देश का कल्याण होगा और देश के कल्याण के साथ-साथ समूचे विश्व का कल्याण होगा।

जोधपुर
२७-६-१६५३

इन्कार नहीं,—इक़रार !

पिछले हज़ारों-लाखों वर्षों से भारतवर्ष के ऋषि-मुनि आत्मा के सम्बन्ध में केवल एक यही दृष्टि कोण अपनाते आये हैं—कि आत्मा अजर और अमर है। दर्शन-ग्रन्थों में वे बराबर यही कहते आये हैं—कि आत्मा अजर-अमर है। उसका न कभी जन्म होता है और न कभी मरण ! और जब वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त है तो न कभी बालपन को धारण करती है, न कभी युवा अवस्था को प्राप्त होती है और न कभी जरा ही उसे सताती है। यह तो केवल शरीर ही है, जो, जन्म लेता है और एक दिन बड़ा भी होता है। जब वह बालक होता है तो उसका किलकारी-भरा शोर सुनाई देता है, युवा होता है तो मद उसकी आँखों में स्पष्ट दीख पड़ता है और जब उसे जरा आकर घेरती

है तो कराहट भी सुनाई देती है— फिर, उसका स्पन्दन से रहित रूप भी हमारे सम्मुख आता है–और कुछ ही देर के बाद फिर उसका वह रूप भी नष्ट हो जाता है। जिन तत्वों की सहायता से वह निर्मित हुआ था, उन्हीं तत्त्वों में लीन हो जाता है।

तो, शरीर नश्वर है और आत्मा अजर अमर ! जब शरीर नष्ट हो जाता है तो आत्मा उसे त्याग तुरन्त ही किसी नये शरीर को धारण करती है—और इस प्रकार जब तक वह मोक्ष को प्राप्त नहीं हो जाती, अनन्त-अनन्त जन्मों में चक्कर काटती रहती है। सत्कर्म करने पर ऊँची उठती है और असत्कर्म करने पर नीचे गिरती है। भारतीय एक ऋषि ने कहा है—

सत्कर्म करने से आत्मा विकास को प्राप्त होती है—तो, वह जीवन की ऊँचाई पर चढ़ती है। जीवन के आदर्शों की ओर दौड़ लगाती है। मगर जब असत्कर्म में लग जाती है तो बुरे विचारों में, बुरे कामों में उलझ जाती है। वह जीवन के आदर्शों को भूल जाती है और निरंतर नीचे की ओर खिसकती है। और इस प्रकार कभी वह हिमालय की ऊँचाई को छूती है—कभी पाताल की गहराई में डुबकी लगाती है। और इस तरह निरन्तर संघर्ष में जूझती हुई, अनन्त-अनन्त जन्मों में चक्कर काटती हुई, हजारों और लाखों योनियों में घूमती हुई जब आत्मा मनुष्य-शरीर धारण करती है, मानवता के रूप में अँगड़ाई लेती है, तब उसके रूप का वास्तविक निखार शुरू होता है।

तो, आप और हम सब कहाँ से आये हैं, हमारी-आपकी आत्माओं ने किस-किस योनि को त्याग कर मनुष्य-योनि को ग्रहण किया है—प्रश्न इस बात का नहीं है। कहीं-न-कहीं से तो हम-सब आये ही हैं, इस सम्बन्ध में बस इतना विचार कर लेना ही पर्याप्त है; मगर सोचना यह है कि इस समय हम सब कहाँ पर खड़े हैं ? जीवन की ऊँचाई की कौनसी मंजिल पर हम सब का आसन लगा है ? निरन्तर चढ़ते हुए जो इन्सान की जिन्दगी में आगए हैं तो अब हम-सबका क्या कर्त्तव्य है ? और हम-सब अपने उस कर्त्तव्य को किस प्रकार पूरा करें ? जीवन की मन्ज़िल पर किस प्रकार आगे बढ़ें—जो, मन्ज़िल के सिरे तक पहुँच जाँय। जीवन की सर्वोत्तम ऊँचाई को छू सकें और मोक्ष के मन्दिर में पहुँच जाँय। चाहे कोई गृहस्थी है, चाहे साधु; मगर यह प्रश्न सब के सम्मुख है। संसार में विद्यमान् जितने भी धर्म हैं, वे मनुष्य के भूत अथवा भविष्य पर इतना अधिक विचार नहीं करते, जितना कि वे जीवन की लड़ाई में वर्त्तमान को महत्त्व देते हैं। कहा है—

यदि यहाँ इस योनि मे पहुँच कर भी जीवन को अच्छी तरह समझ नहीं सके, आत्म-तत्त्व को परख नहीं सके—तो, यह सबसे बड़ा सर्वनाश है। घोर पतन है। मगर मानव अपने पतन की ओर ही बराबर अग्रसर हो रहा है। हम देखते हैं कि हज़ारों-लाखों इन्सान इस जीवन में आ तो गये हैं; मगर यहाँ आकर वे इसमें अरुचि उत्पन्न कर रहे हैं। मोह में, दुनियाँ के

चक्कर मे पड़ कर जीवन की वर्त्तमान इस समस्या की ओर ध्यान ही नहीं देते। उस पर विचार ही नहीं करते—उल्टे उससे नफ़रत करते हैं। इक़रार के स्थान पर इन्कार करते हैं—मानो, उनके लिए ज़िन्दगी में कहीं सुख है ही नहीं। बच्चे हैं, तो भी इस जिन्दगी से बेज़ार हैं, तरुण हैं, तब भी इससे नफरत है और बुढ़ापा आ गया है—तो, उनकी घृणा का उग्ररूप हो गया है। उनके आस-पास की जितनी भी दुनियाँ है—परिवार, समाज और राष्ट्र के रूप में, उससे भी उन्हें नफरत है। और इस तरह वे चारों तरफ घृणा, निराशा और इन्कार का वातावरण खड़ा कर देने में ही इस जीवन की उपयोगिता अनुभव करते हैं। जैसे आनन्द, उल्लास और उत्साह को वे जानते ही नहीं। आनन्द के केन्द्र ऋषि-मुनियों के उदाहरण भी अगर उनके सामने दिए जाते हैं—तो भी जीवन के प्रति उनमें उत्साह नहीं उत्पन्न होता—ऐसे निराश हैं, वे जीवन से !

मगर जीवन अथवा जग से निराश होने से तो जीवन की वर्तमान समस्या सुलझेगी नहीं। रोते और बिलखते हुए अगर जीवन काट भी दिया तो उससे क्या होता है? यही कारण है, संसार में जितने भी सन्त हो गए हैं, उन्होंने मानव-समाज से कभी भी नफ़रत नहीं की—उनके त्याग के विषय सर्वदा संसार में विद्यमान् कामना, घृणा, कषाय, प्रलोभन आदि ही रहे। उनकी वाणी को अगर हम भली प्रकार से समझने का प्रयत्न करे तो उनके वचनों में प्रयुक्त होने वाले 'संसार' शब्द का अर्थ

हमारी समझ में ठीक इसी रूप में दृष्टिगोचर होगा, उसके जिस रूप का वर्णन मैंने अपने पिछले वाक्यों में किया है। वास्तव में, संसार में जितने भी विषय हैं, हमें तो उन्हीं का त्याग करना है—न कि उसमे निवास करने वाले प्राणियों से नफ़रत !

इसीलिए जितने भी साधक संसार छोड़कर चले, वे मानव-समाज से नफ़रत करके नहीं चले। तो, यह जीवन का आदर्श नहीं है। यहाँ संसार का मतलब मानव-समाज नहीं है। इस सम्बन्ध में अगर हम अपनी बुद्धि पर पड़े हुए अज्ञान के पर्दे को हटादें तो संतों की वाणी में निहित भाव हमारी समझ में ठीक उसी रूप में आजाँय, जिस रूप में कि उन्होंने अपनी वाणी में उन्हे सँजोया है। कहा भी है—

जब संत आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के लिए ही साधना के पथ पर अग्रसर होता है तो फिर वह मानव-समाज को क्यों कर त्याग सकता है। यह किस प्रकार हो-सकता है कि वह यह सोचकर इस ओर से आँखें मूँद ले कि संसार गढ़हे मे जा रहा है तो जाने दो। मानव पतन के गहरे गर्त में समाया जा रहा है तो समा जाने दो। संसार के प्राणी भूख और प्यास से तड़प-तड़प कर दम तोड़ रहे हैं, मर रहे हैं तो मरने दो। विनाश के पथ पर जाने वाले को वह क्यों रोके—उससे उसका सम्बन्ध ही क्या है ! उसका तो मार्ग ही दूसरा है। नहीं, ऐसा वह कभी भी नहीं सोच सकता। इसके विपरीत विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित हुआ वह संत तो प्राणियो का विनाश रोकने के

लिये आत्मोत्सर्ग करना ही उचित समझेगा। आत्मोत्सर्ग करेगा भी ' करता भी है।

फिर, कुछ नैसर्गिक आवश्यकताएँ प्रत्येक प्राणी की होती हैं—जीवन धारण करने के लिये उन्हें उसे पूरा करना पड़ता है। भूख और प्यास प्राणी की ऐसी ही आवश्यकताएँ हैं। गृहस्थी को भी भूख लगती है, और प्यास भी—और साधु को भी भोजन और जल की आवश्यकता होती है—तो, वह भोजन गृहस्थी से प्राप्त करता है। अस्वस्थ होने पर दवाएँ भी माँग लेता है—तो, मानव-समाज से सम्पर्क उसका बराबर क़ायम रहता है। फिर, वह संसार के प्राणियों से नफ़रत क्यों करे? उनकी अवहेलना क्यों करे? और जब उसे ज्ञान के विस्तार के लिये भी मनुष्यों की आवश्यकता है—तो, वह स्वंयभू किस प्रकार बने? अगर बनता है तो त्रिशंकु की-सी गति को प्राप्त होता है। राजा त्रिशंकु की कथा पुराणों में आई है, जो मनन करने योग्य है। राजा त्रिशकु मानव-समाज का तिरस्कार करके स्वर्ग में पहुँचा तो स्वर्ग के देवताओं ने उसे धक्का दे दिया—पृथ्वी के प्राणियों ने जब उसे फिर अपनी ओर आते देखा तो उन्होंने उसे फिर ऊपर को उछाल दिया। इस प्रकार देवताओं ने अनेक बार उसे धक्का दिया और मनुष्यों ने उसे उतनी ही वार ऊपर को उछाला—तो, अन्त में वह बीच ही में अटक रहा। तो स्वयँ में ही लीन रहने वाला साधु त्रिशंकु की गति को प्राप्त होता है। अधर में लटक रहता है।

संसार के प्राणियों से नफरत करने वाला व्यक्ति—साधु या गृहस्थी—उस सत्य की उपासना नहीं कर पाता, जिसमें वह लीन रहना चाहता है। मोक्ष के मन्दिर के अग्रद्वार उस सत्य की उपासना तो तभी हो-सकती है, जब विश्व-कल्याण की भावना साधक के मन में निरन्तर जगी हो। जीव-मात्र पर दया करने की प्रवृत्ति उसके मन में घर कर गई हो। साधक का मन आत्म-कल्याण के साथ-साथ विश्व-कल्याण की भावना से भी प्रेरित हो।

तो, भारतवर्ष के अन्य अनेक ऋषि-मुनियों ने भी अपनी वाणी में इसी सत्य को सँजोया। उन्होंने कहा—हमारे हृदय के भीतर क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, लालच, वासना, प्रलोभन और प्रतिष्ठा के रूप में अनेक कामनियाँ सदैव विद्यमान् रहती हैं। और प्राणी इन कामनियों के चक्कर में इतनी बुरी तरह से जकड़ा रहता है कि उनसे उसका छुटकारा पाना बहुत ही कठिन है—मगर असम्भव नहीं है। इसीलिये साधक प्रयत्न करने पर इनके चक्कर से छूट जाता है। तो, साधक को दर-असल छूटना तो इन्हीं के चक्कर से है। इनको त्यागना, इनको ध्वंस करना और इनसे मुक्ति पाना, स्वयँ को इनके आधिपत्य से आज़ाद करना, वास्तव में, साधक के जीवन का यही आदर्श है।

चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु; मगर पैरों में पड़ी इन बेड़ियों को तो काटना ही होगा। इस रूप वाली दुनिया को छोड़ना ही होगा—और जैसे-जैसे यह दुनिया आपसे दूर हटती जायगी—

क्रोध, माया, लोभ, स्वार्थ आदि विकारों की लहरें, ये भावनाएँ आपके मन में उठनी बन्द होती जायेंगी—वैसे ही वैसे आत्मा में परमात्मा जगता चला जायेगा। सोता हुआ ईश्वर-तत्त्व जागृत होता चला जायेगा। और एक दिन अनन्त-अनन्त काल से सोई पड़ी यह विराट् चेतना जाग जायेगी। और तब आप ऐसा अनुभव करेंगे, जैसे मानवता के आप समीप पहुँचते जा रहे हैं। वास्तव में, जब तक आपकी वृत्तियाँ इस स्थूल पिण्ड में केन्द्रीभूत रहती हैं, तब तक आप केवल इस शरीर की आवश्यकताओं का ही अनुभव कर पाते हैं—भूख, प्यास तथा अन्य वासनाओं को ही महसूस कर पाते हैं; मगर जैसे-जैसे आप आत्मा को केन्द्र-स्थल मान कर आगे बढ़ते जाते हैं, अपनी विराट् चेतना को जगाते हुए अपना क़दम उठाते हुए चलते जाते हैं, वैसे ही वैसे जीवन के आदर्श के समीप और और समीप पहुँचते चले जाते हैं। तो, जीवन के आदर्श को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि आप सुषुप्त अपनी विराट् चेतना को जगाएँ। ग़लत विचारों को दूर हटा दें और आत्मा की अनन्त शक्तियों को जागृत करें। तभी, आप मोक्ष के द्वार तक पहुँच सकेंगे, अन्यथा नहीं।

दरअसल, इन्सान की ज़िन्दगी, नरक और स्वर्ग के बीच झूलती रहती है। स्थूल पिण्ड की वासनाएँ उसे नरक की ओर ले जाती हैं और वह नाना प्रकार के दुःख भोगता हुआ आवागमन के चक्कर में चक्कर लगाता रहता है; मगर

उसकी आत्मा में निहित देवत्व का प्रकाश उसे स्वर्ग की ओर अग्रसर करता है और एक दिन मोक्ष के मन्दिर में जाकर खड़ा कर देता है। तो, प्राणी आवागमन के चक्कर से छूट जाता है और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

जब मनुष्य का जीवन ऊँचा उठता है और उसकी आत्मा का प्रकाश एक सिपाही की भाँति युद्ध के मोर्चे को भली प्रकार से सँभाल लेता है तो मानव निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता हुआ अपने उद्देश्य की ओर प्रगति करता जाता है। और जब वह निरन्तर इस प्रकार अपनी मन्ज़िल के छोर की ओर बढ़ता जाता है तो देवता भी उसके उस जीवन की आकांक्षा करने लगते हैं। तब वे सोचते हैं कि कब वे मनुष्य शरीर धारण करें और कब ईश्वरीय भाव को अपने अन्दर जगायें, कब अपनी आत्मा को परम-ब्रह्म में लीन करें। तो, सोचिये—कितनी उच्च है, यह मनुष्य-योनि ! तो, अगर इसको वासनाओं में लिप्त रह कर ही व्यतीत कर दिया—तो, ऐसे प्राणी का तो सब कुछ खो गया। सब कुछ समाप्त हो गया।

भगवान् महावीर के पास बच्चे आये और जब बातें करने लगे तो भगवान् ने उन्हे 'देवाणुप्पिया' अर्थात् 'देवों के प्यारे' कह कर सम्बोधित किया। और जब रनवासों में पड़े रह कर समय बिताने वाले नवयुवक उनके पास आये तो भी भगवान् ने उन्हें 'देवाणुप्पिया' कह कर ही सम्बोधित किया और उनसे कहा—तुम को इन्सान की ज़िन्दगी मिली है तो अपने जीवन

का विकास करो। जीवन की ऊँचाई को प्राप्त करो। और जब मौत के समीप पहुँचे हुए बूढ़े, पहुँचे तो उन्हे भगवान् ने आशा का सन्देश दिया। उनके निराश मन को जागृत किया। उनसे उन्होंने कहा—तुम बूढ़े हो गये तो क्या हुआ ? तुम्हारा यह शरीर ही तो बूढा हुआ है—सदा एक ही रूप मे रहने वाली आत्मा तो बूढ़ी नहीं हो गई। शरीर ही तो मौत के मुँह में जा रहा है, तुम तो नहीं जा रहे। तो, निराश क्यों हो रहे हो ? और तुम जो कहते हो कि जीवन को बनाने के लिए सौ, दो-सौ, हज़ार वर्ष चाहिएँ—तो, जीवन को बनाने के लिये सौ, दो-सौ, और हज़ार वर्षों की आवश्यकता नहीं होती। जीवन को बनाने के लिए तो एक क्षण ही पर्याप्त है। एक साँस ही काफ़ी है। यह सत्य है कि इस ओर ध्यान न देने वाले को तो हज़ार वर्ष भी थोड़े हैं; मगर जो परमात्म-भाव के दर्शन करने के इच्छुक हैं, उनके लिए एक क्षण ही काफी है। एक साँस भी काफ़ी है। तुम रोते और बिलखते क्यों हो ? तुम्हारा शरीर मरता है तो मरने दो। अगर तुम परमात्म-तत्व के दर्शन यहाँ न भी कर सके तो आगे कर लोगे। तुमने अगर यह दीपक यहाँ जगा लिया तो अपनी अगली मन्ज़िल पर हज़ार-हज़ार दीपक जलते हुए पाओगे। तो, दीपक को रौशन करो, रोओ मत !

तो, जीवन के सबसे बड़े पारखी और दार्शनिक भगवान् महावीर को राजा-रंक, बूढ़ा-जवान, स्त्री-पुरुष जो भी रोता हुआ मिला, उससे उन्होंने यही कहा। उसको यही सन्देश

दिया। मानव-मात्र के लिए उन्होंने 'देवाणुप्पिया' सम्बोधन का ही प्रयोग किया। इसीलिये यह शब्द, यह सम्बोधन आज भी हमारे कानों में गूँज रहा है। तो, जब मानव-जीवन देवताओं के लिए भी दुर्लभ है, वे भी उसकी आकांक्षा करते हैं तो तुम इसको वासनाओं में लिप्त रह कर ही क्यों समाप्त कर रहे हो? जीवन के आदर्शों से दूर क्यों हटते जा रहे हो? वासना के क्षेत्र में इतनी तेज़ दौड़ क्यों लगा रहे हो?

वास्तव में, आज रोने का एक यही कारण है कि मानव लोभ, मोह, स्वार्थ, अभिमान आदि विकारों से चिपट-सा गया है। भारतवर्ष की संस्कृति को, जीवन के आदर्श को भूल कर वह वासना के क्षेत्र में बे-तहासा दौड़ लगा रहा है। आज हम देखते हैं, जो गरीब है, वह भी रोता है और जो अमीर है, सोने के सिंहासन पर बैठा है, वह भी रो-रहा है। गृहस्थी भी रो-रहा है और साधु भी रो-रहा है। और इसका एकमात्र कारण है, जीवन के आदर्श को भूल जाना। तो, जीवन में जो निराशा छा रही है और जीवन में आनन्द और उल्लास का मज़ा नहीं आ रहा है, इसका कारण है, अपनी संस्कृति के प्रति उदासीन हो-जाना। उसको भूलकर दूसरों की संस्कृति को अपना लेना।

मनुष्य-शरीर मिला और उसका उपयोग न किया तो क्या हुआ? कुछ भी तो नहीं। जीवन के ५०—६०—७० वर्ष यूँ ही रोते-रोते निकाल दिये—इतने लम्बे समय में एक क्षण

के लिये भी यह न सोचा कि इस जीवन का उपयोग किस प्रकार किया जाये—तो, रोने के अतिरिक्त पल्ले भी क्या पड़ता ? तो, पिता ने पुत्र का रोना रोआ और चला गया, पुत्र पिता का रोना रोआ और समाप्त हो गया। पति ने पत्नी का रोना रोआ और पत्नी ने पति का—और जीवन समाप्त कर लिया। सास, बहू के फफरे पीटती मर गई और बहू ने सास को मुँह भर-भरकर कोसा और यह देव-दुर्लभ जीवन खो दिया। तो, भारतीय संस्कृति में जीवन का उद्देश्य यह तो न था।

तो, भारतीय पिता तो वह है, जो पुत्र को प्राप्त कर प्रसन्नता अनुभव करे। पुत्र के कारण ही अगले सौ वर्ष तक जीवित रहे। और पुत्र वह है, जो, पिता को आनन्द का केन्द्र मानकर उसकी आज्ञा का पालन करता हुआ जीवन-यापन करे। बहू अपनी अन्तिम साँस तक सास की सेवा में रत रह कर जीवन गुजारे। सास अपनी बहू को पुत्री-वत् प्यार करे। और यह है, भारतीय सस्कृति !

भारतीय वधू ने सर्वदा आत्मा के एकत्व-भाव में ही विश्वास किया है। उसने कभी यह समझने की कोशिश ही न की कि मुझमें और सास में दो विभिन्न प्रकार की आत्माएँ हैं। जब भारतीय सस्कृति में प्राणी-मात्र में समभाव रखने की बात बार-बार कही गई है तो एक बहू अपनी सास में ही द्वैधी-भाव की सृष्टि किस प्रकार कर सकती है—और कभी उसने की भी नहीं है—तो, आज कल जो हम ऐसी बातें देखते हैं तो यह

संस्कृति हमारी अपनी नहीं, किन्हीं दूसरों की है—जिसका दूषित प्रभाव आज भारतीय नारी पर पड़ गया है। पुरुष पर भी पड़ा है—और आज सभी अलग-अलग हैं और रो रहे हैं। तो एक-दूसरे की शिकायतों को लेकर अपनी सारी जिन्दगी रोते-रोते काट देना भारतीय जीवन का आदर्श नहीं कहा जा-सकता। तो, भारतीय संस्कृति तो ऐसी है कि भारतीय अगर सोने के सिंहासन पर बैठा है तो भी मुस्करा रहा है और अगर झोंपड़ी में रह कर गुजर कर रहा है, तब भी मुस्करा रहा है। महलों में रह कर भी जीवन के आदर्शों का पालन कर रहा है और कुटिया में बैठा है तो भी अपनी आत्मा को निखार रहा है। गृहस्थी है, तब भी अपने जीवन की ऊँचाई को छूने का प्रयत्न कर रहा है और अगर साधु है, तो भी परमात्म-तत्त्व को प्राप्त करने के प्रयत्न में लगा है। तो, आज अगर कोई गड़बड़ाता है तो समझना चाहिए कि उसने अपने जीवन को भली प्रकार से समझा ही नहीं है। उसे जाना ही नहीं है।

अन्य किन्हीं की संस्कृति से प्रभावित भारतीय वास्तव में आज जीवन के गुलाम बनकर रह रहे हैं—तो, फिर रोने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकते हैं! तो, जीवन में अगर हँसना चाहते हो तो समझो, भारतीय संस्कृति पुकार-पुकार कर कह रही है—कि तुम जीवन के गुलाम नहीं, उसके स्वामी हो। अपने जीवन के सम्राट् हो। तभी, तुमको जीवन का आनन्द

और प्रकाश प्राप्त होगा। अन्यथा कितना ही भटका करो, लाखों-करोड़ों के स्वामी होने पर भी तुम्हारा रोना नहीं मिटेगा। जब रोना दासता का चिन्ह है तो वह मिट भी कैसे सकता है। जब वासना की एक ही बूँद ने रावण जैसे सम्राट को मिटा डाला, उसकी सोने की पुरी में आग लगादी तो लखपति-करोड़पति की तो फिर बात ही क्या है ! तो, अगर तुम जीवन-भर रावण ही बने रहे, राम नहीं बने—तो, जीवन के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकते। परमात्म-तत्त्व के मूल्य को नहीं आँक सकते।

लोग कहते हैं कि जैन-धर्म दुनिया को निराशा का सन्देश देता है। वह जीवन से इक़रार नहीं, इन्कार करता है। जीवन के अस्तित्व को स्वीकार नहीं, अस्वीकार करता है—जिससे समूची मानव-जाति में निराशा की भावना फैलती है। मगर मैं इस भावना के ठीक विपरीत सोचता हूँ। एक विद्यार्थी होने के नाते जैन-दर्शन और जैन-साहित्य का जितना भी थोड़ा-बहुत मुझे ज्ञान है, उसके अनुभव पर मैं कह सकता हूँ कि जैन-धर्म मानव-जाति को निराशा का नहीं, आशा का सन्देश देता है। वह जीवन के प्रकाश की ओर संकेत करता है।

हाँ, बीच के समय में कुछ व्यक्तियों ने जैन-धर्म में ऐसी भावना जरूर जागृत की, जो, जीवन से दूर भागने की बात कहती है—तो, यह तो उन लोगों की स्वयँ को धारणा है; मगर जैन-धर्म की मूल-आत्मा उनके इन विचारों का समर्थन नहीं करती।

उसकी आत्मा तो वार-वार यही कहती है—कुविचारों से लड़ने को स्वयँ में शक्ति उत्पन्न करो—जीवन को आनन्दमय और उल्लासमय बनाओ। अगर तुम अपने जीवन पर शासन नहीं कर सके, अधिकार नहीं कर सके तो तुमने जीवन के उद्देश्य को जाना ही नहीं, उसे समझा ही नहीं। रोने के लिये बैठ गये तो जीवन-सिद्धान्त को कब समझोगे। ज्ञानी और विज्ञजन कहते हैं—मानव ! तू केवल हड्डियों का पिण्ड-मात्र नहीं है। उसके विपरीत तू परम्-ब्रह्म, परम्-प्रकाश, परम्-ज्योति है। तू अपने प्रकाश से सारे संसार, समूचे विश्व को जगमगा सकता है। तो, तू निराश क्यों होता है ? जीवन से वेजार क्यों होता है ? आनन्द का अनुभव क्यों नहीं करता ? सड़े-गले विचारों को महत्त्व क्यों देता है ? जीवित-जीवन के मूल्य को क्यों नही आँकता। जीवन के आदर्श को क्यों नहीं समझता ?

तो, जब भारतवर्ष के विज्ञ-जन तुझसे वार-वार यही कह रहे हैं कि अगर तेरा मकान हिमालय की चोटी पर है तो तू वीरवर हनुमान की भाँति छलाँग मारकर वहाँ पर क्यों नहीं पहुँच जाता। तो, उनके इस कथन में निराशा की भावना कहाँ है—जो तू रोने के लिए बैठता है। घर की देहली पार करते समय भी लड़खड़ाता है। निराशा के वातावरण को अपने चारों ओर उत्पन्न कर उसमें डूबा रहता है। जीवन को रोते हुये विताना चाहता है। उसपर शासन नहीं करता, उससे शासित होता है।

जैन-धर्म भी तुझसे यही कहता है—तू बंधनों में जकड़े रहने

के लिये उत्पन्न नहीं हुआ है। तू जब उन बंधनों को तोड़ सकता है तो तोड़ क्यों नहीं देता। बँधा रहकर छटपटाता क्यों है ? जब तक तू अपने स्वरूप को भूला हुआ है, तब तक, समझने-तेरी आँखों पर अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ है। और अज्ञान के इस अंधकार के कारण ही तुझे अपने वास्तविक जीवन के दर्शन नहीं हो रहे हैं-तो, तू इस अज्ञान के पर्दे को दूर क्यों नहीं हटा देता। प्रकाशित होकर संसार में जगमग-जगमग क्यों नहीं चमकता। अपने उस उज्ज्वल प्रकाश से संसार-भर को क्यों नहीं चमका देता। जब तू आत्मा से परमात्मा बन सकता है तो जीवन की छोटी-छोटी समस्याओं के भीतर लड़खड़ा क्यों जाता है ? अपने व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन और राष्ट्रीय जीवन के मोर्चे पर डटकर खड़ा क्यों नहीं होता, वहाँ से भाग-खड़ा क्यों होता है ? और फिर, बिलख-बिलख कर रोता हुआ कुत्ते की मौत क्यों मरता है ? यह न जैन-धर्म का ही सन्देश है और न वैदिक धर्म का ही। फिर, तू अपनी स्वयँ की अथवा किसी अन्य की ग़लत धारणा में फँसकर स्वयँ को निकम्मा क्यों बनाता है ? इस भ्रान्त भावना से लड़ता क्यों नहीं ?

तू विश्वास कर, यह असत्य सन्देश आत्मा का नहीं हो-सकता। जब आत्मा में ज्ञान है, प्रकाश है—तो, यह निकम्मी धारणा आत्मा की वाणी क्योंकर हो-सकती है ? जब आत्मा संघर्ष करने के लिए है तो तू उसे कायर क्यों समझ बैठा है ? पुराने आचार्य इस सम्बन्ध में एक रूपक कहते आये हैं—एक भिखारी,

जो, जीवन-भर फूटे ठीकरे में भीख माँगता रहा, दर-दर की ठोकरें खाता रहा; मगर फिर भी जिसको कभी भरपेट भीख न मिल सकी, एक दिन सौभाग्य-वश राजा बना दिया गया। जब वह राजसी ठाठ-बाट में सोने के सिंहासन पर बैठा—तो, प्रधान मन्त्री उसके सम्मुख उपस्थित हुआ; मगर वह उसे कोई आज्ञा ही न दे सका। उसका मन काँप गया और वह उससे बोल भी न सका। और कुछ ही क्षणों के उपरान्त जब सेनापति उसके सामने आया तो उसका दिल और भी जोर-जोर से धड़कने लगा—वास्तव में, इस समय उसे बारबार यही ख्याल आ रहा था कि ये वे ही लोग हैं, जिनके द्वार से वह अनेक बार धक्के खाकर लौटा है, जिनके मामूली नौकरों ने धकेल कर उसे द्वार से दूर हटा दिया है। और वह अपने इन्हीं हीन भावों में डूबा हुआ चुपचाप बैठा रहता है—न प्रधान मन्त्री से राज्य-सम्बन्धी कोई बात करता है और न सेनापति से सेना-सम्बन्धी कोई मन्त्रणा ही करता है, राज्य की सुरक्षा के बारे में भी नहीं पूछता—तो, प्रधान मन्त्री और सेनापति उसे मूर्ख समझते हैं। राज-दर्बार में उपस्थित राजधानी के अन्य गणमान्य व्यक्ति तथा नौकर चाकर भी उसे पागल समझकर उसका मजाक बनाते हैं। तो, वह भिखारी राजा बनकर भी रोता है, सोने के सिंहासन पर बैठ कर भी आँसू बहाता है, आँसुओं से आँखें तर कर लेता है। वह सोचता है, इससे तो जब वह भिखारी था, तब ही अच्छा था। भीख के टुकड़े खा-लेता था

और अच्छा था।

और इसका अर्थ है कि उसकी भिखारी-जैसी मनोवृत्ति राजा बनकर भी नहीं टूटती। सिंहासन पर बैठ कर भी उसमें शासन करने का उल्लास उत्पन्न नहीं होता। शासन चलाने की प्रेरणा नहीं आती है—इसीलिये वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से बात-चीत करते हुए भी डरता है—उन्हें आज्ञा देना तो उसके लिये बहुत दूर की बात है।

तो, भिखारी की इस बात पर आपको भी हँसी आती होगी और दया भी! लेकिन आप अगर इस रूपक के प्रकाश में अपने विषय में सोचें तो आप स्वयं भी उस भिखारी-जैसे ही जान पड़ें। वास्तव में, आप मानव-रूपी राजगद्दी पर आकर बैठ तो गये हैं; मगर अपने मन-रूपी मन्त्री को आदेश देने में उस भिखारी के समान ही असमर्थ हैं। आप सब लगभग रोज़ ही मन्दिर या स्थानक में जाते हैं, वहाँ बैठकर माला फेरते हैं, मत्था टेकते हैं—साथ ही और भी धार्मिक क्रियाएँ करते हैं—और ऐसा करते-करते आपको दस-बीस-तीस-चालीस-चालीस वर्ष व्यतीत हो गए हैं; मगर फिर भी शिकायत करते हैं कि आपकी आज्ञा को आपका मन नहीं मानता। तो, आपकी अन्य इन्द्रियाँ भी आपके वश में नहीं हैं। तो, अब ज़रा सोचिये—क्या आप उस भिखारी से अच्छे हैं? और जब आप इस तरह अपने विषय में सोचेंगे तो आपको अपने ऊपर भी हँसी आयेगी, दया उत्पन्न होगी।

तो, इन्सान के रूप मे जन्म ले-लेने से ही कोई इन्सान नहीं हो जाता। जब तक विराट् मानव जीवन की राजगद्दी पर बैठने की योग्यता आप में नहीं है, तब तक आप उस भिखारी के समान कुछ और ही हैं। जब तक आप में इन्सान की-सी चमक, तेजी और अपने ऊपर शासन करने की योग्यता का विकास नहीं हुआ है, तब तक आपका मन-रूपी मन्त्री आपकी आज्ञा को नहीं मान सकता। शासन करने का तेज आप में उत्पन्न नही हुआ है तो मन आपका कहीं भटकेगा, वाणी कुछ भी कह डालेगी, कान कुछ भी सुनने लगेंगे और आँखें कहीं भी फिसल पड़ेंगी—तो, ये तो आपके साम्राज्य में बग़ावत के चिन्ह हैं—और शक्ति-हीन ऐसे राजा का साम्राज्य फिर कितने दिन ठहरेगा।

तो, इन्सान कहलाने का हक़ अगर प्राप्त करना चाहते हो तो स्वयं में वह तेज धारण करो—जिसके कारण आपकी सभी इन्द्रियाँ आपके अधिकार मे रहें। मन आपका वही कार्य करे, जिस कार्य को करने के लिये आप उसे आज्ञा देते हैं। कान आपके वही बातें सुनें, जो आप सुनना चाहते हैं, आँखें उसी दृश्य को देखें, जिसे आप देखना चाहते हैं—तब तो, आप इन्सान हैं, अन्यथा नहीं।

अगर आप ऐसा नहीं कर सके तो यह जीवन आपका बेकार है। यह तो ऐसी बात है, जैसे बादशाह होकर भी आप अँधेरे में रह रहे हैं। आपके कर्मचारी मनमानी कर रहे हैं; मगर

आप तेज से, योग्यता से हीन होने के कारण उन कर्मचारियों से कुछ भी नहीं कह पाते—तो, ऐसी दशा में तो एक दिन ये आपके ही कर्मचारी आपको समाप्त कर देंगे। यह तो ऐसी बात है—जैसे किसी सेठ ने एक मोटर ख़रीदी और उसे चलाने के लिये एक ड्रायवर भी नौकर रख लिया। एक दिन, मोटर में बैठकर उस सेठ ने अपने ड्रायवर को आज्ञा दी—मोटर को दिल्ली ले-चलने के लिये; मगर वह ड्रायवर उसे ले गया—पाकिस्तान की राजधानी करॉंची! वह सेठ जाना तो चाहता है दिल्ली; मगर ले जाया जा-रहा है—करॉंची! तो, करॉंची पहुँचकर वह सेठ रोने लगता है। तो, देखने वाले सोचते हैं, अरे, बीस हज़ार के मूल्य की मोटर में बैठा हुआ यह सेठ भी रोता है। और जब सेठ के मुँह से वे यह सुनते हैं कि यह ड्रायवर कहना ही नहीं मानता। मैंने इससे कहा था—दिल्ली ले-चलने के लिये और यह मनमानी करके मुझे ले आया है, करॉंची! तो, वे सुनने वाले कहते हैं—अरे! यह भी कोई ज़िन्दगी है। अगर यह ड्रायवर तुम्हारी आज्ञा को नहीं मानता और मनमानी करता है तो ऐसा ड्रायवर क्यों रखते हो? अपनी योग्यता से उसे आज्ञाकारी क्यों नहीं बनाते? जब मोटर का ड्रायवर ही आपके वश में नहीं है तो मोटर में बैठने का मज़ा ही क्या है? बिस्तर के समान मोटर में पड़े चले गये—तो, आपका इन्सान बनने का दावा झूँठा है। इससे तो बिस्तर ही होते तो किसी तरह की अनुभूति तो न होती। मगर जब विकास-शील आत्मा हो तो सुख-दुख

का अनुभव तो होगा ही। तो, तेज का संचय क्यों नहीं करते, जिससे सुख-दुख को समान भाव से सहन कर लो—रोने की नौबत ही न आये। शासन करने के अयोग्य होने पर रोना-विलखना तो पड़ेगा ही! तो, जीवन के आदर्श को पहिचानो और उसी के अनुसार बनने का प्रयत्न करो। रोना और विलखना स्वतः ही बन्द हो-जायेगा।

कभी-कभी मेरे सामने एक बात आया करती है—किसी को कोई ग़लत आदत पड़ जाती है तो उससे फिर वह जीवन-पर्यन्त नहीं छूटती। इन्सान के लिए क्या यह भी कोई मुश्किल बात है; मगर व्यवहार में मैं देखता हूँ, आज के इन्सान कहलाने वाले के लिये वास्तव में यह बहुत मुश्किल काम हो गया है। कहना चाहिए, उसके लिए यह काय असम्भव हो गया है। मगर वास्तव में, यह असम्भव तो क्या, कुछ मुश्किल भी नहीं है। जो, इन्सान बनना चाहता है, उसके लिए यह कार्य न-कुछ के बराबर है। बात असल मे यह है कि जब आप सोये पड़े थे, इन्सान के पौरुष से नावाकिफ थे, तब यह ग़लती आप में प्रवेश कर गई; मगर अब जब आपको जगाया जा-रहा है—धर्म जगा रहा है, संत जगा रहे हैं, जीवन जगा रहा है और मौत जगा रही है—फिर भी आपसे वह ग़लती छूट नहीं रही है। बड़ा ताऽज्जुब है।

एक दिन एक भाई के यहाँ मुझे जाना पड़ा। वे बीमार थे और मर-मर कर जिन्दा हो रहे थे। गुरु-दर्शन की उनके मन

में लालसा जागी और मुझे जाना पड़ा। मैं उनके घर गया—तो, उनकी पत्नि कहने लगी—इन्हें साँस की बीमारी है; मगर फिर भी तम्बाकू नहीं छोड़ते हैं। जब भी यह तम्बाकू पी लेते हैं, तब ही इनकी खराब हालत हो-जाती है। और अपनी पत्नि की इस बात को सुनकर तुरन्त ही वह बोले—अरे! अब तो यह मरने के बाद ही छूटेगी। तो, मैंने उनसे कहा—तुम तो श्रावक रहे हो। तुमने जिनवाणी को भी सुना है—मगर उसके मर्म को नही जाना, इसीलिए तम्बाकू पीना नहीं छोड़ सके। भगवान् महावीर की जय तो बहुत बोली; मगर भगवान् की वाणी को मन में नहीं बसाया—इसीलिए ग़लती तुम्हारी सुधरी नहीं। तो मरने के उपरान्त अपनी इस भूल को सुधारा तो इन्सान का गौरव ही क्या रहा! मरने पर तो कुत्ते, गदहे, शेर, चीते, कीड़े और मकोड़े भी सब कुछ छोड़ जाते हैं; किन्तु जिन्दा रह कर जो छोड़े, इन्सान तो वही है। जीवित रहते हुए ही अपनी भूल को सुधारे, मानव उसी को कहते हैं। इन्सान अगर स्वयँ को इन्सान कहलाने का दावा करता है तो स्वयँ में इन्सानियत की चमक भी पैदा करे, तब ही वह इन्सान कहलाने का हक़दार है। अन्यथा इन्सान और जानवर में फिर भेद ही क्या है।

मगर दूसरे दिन मुझे ज्ञात हुआ कि उन भाई पर मेरे उस उपदेश का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। तम्बाकू उन्होंने फिर भी पी और यह कह कर ही पी कि अब तो यह मर जाने पर ही

तो, मेरे इस कथन में झूँठ क्या है ? यदि आप सत्य को प्रकट करने में असमर्थ हैं तो फिर आपको जीवन का बादशाह कैसे कहा जा सकता है। तो, कोरी प्रतिष्ठा रूपी इस ज़हर की गोली को सत्य की ख़ातिर आप निगल क्यों नहीं जाते। वास्तव में, यदि आप निगल लेते हैं तो मैं कहूँगा—आप जीवन के मालिक बनकर, इन्सान बनकर मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। और एक इन्सान के लिये यही ठीक भी है।

जब मुझे धर्माचार्यों से बात-चीत करने का मौक़ा मिलता है तो, उनकी इस बात को सुनकर मैं हैरान हो जाता हूँ—वे कहते हैं, बात तो आपकी ठीक है, परमार्थ की दृष्टि से; मगर जनता क्या सोचेगी ? तो, इसके उत्तर में मैं उनसे कहता हूँ—तो, फिर मेरी बात की सत्यता का आपकी दृष्टि में मूल्य ही क्या रहा—आपने तो जनता की राय को ही ठीक समझा। तो, सत्य से अधिक प्रिय तो आपको प्रतिष्ठा ही लगी। सामाजिक रीति-रिवाज़ों के सम्बन्ध में भी ऐसे ही विचार सामने आते हैं और मैं सोचता हूँ, यह तो सत्य रूपी बच्चे का गला घोंटना हुआ। जब बात सही है तो फिर 'पर' क्या ? यदि आप अपने जीवन को बनाकर चलना चाहते हैं तो यह मत सोचिये कि समाज के लोग क्या कहेंगे, पुराने अनुयायी क्या कहेंगे और जनता क्या कहेगी ? यदि आप जनता की राय जानने में ही लगे रहे तो जीवन को सँभाल कर चलना मुश्किल पड़ जायेगा। तो, आप का यह कथन तो निरर्थक जान पड़ता है कि जब जनता बदल

जायेगी तब आप भी बदल जायेंगे। आपकी यह वाणी क्या शोभा-जनक कही जा सकती है। इसका सीधा-सादा अर्थ तो यह हुआ कि बदले हुए रूप में गुरुजी की सवारी उस समय आयेगी, जब जनता उसी रूप में उनका स्वागत करने के लिए तैयार होगी-तो, इस रूप में तो आपको अपनी प्रतिष्ठा का ही ध्यान बराबर बना रहा, आपने स्वयँ सत्य को कहाँ अपनाया। मैं पूछता हूँ, सत्य के मोर्चे पर, जिन्दगी के मोर्चे पर पहिले गुरुजी को आना चाहिए या जनता अथवा चेले-चंटारियों को।

जब गुरु में जीवन की ज्योति का ही अभाव हो गया है, सत्य को सत्य कहने का साहस ही नहीं रहा है और किसी बात के विषय में ठीक निर्णय दे-सकने की हिम्मत ही नहीं है—क्या ग्राह्य है और क्या छोड़ देने योग्य है, जनता को यह बतला देने की सामर्थ्य ही नहीं—तो, मैं तो इस बात का यही अर्थ लेता हूँ कि ताँगे का नक़शा ही बदल गया है। ताँगा आगे हो गया है और घोड़ा उसके पीछे चला गया है और वहीं से घोड़ा ताँगे से कह रहा है कि मुझको खींचो। तो, जरा आप सोचिये—क्या ऐसा होना सम्भव है ? अगर ताँगे में स्वयँ ही आगे बढ़ने की शक्ति होती तो फिर उसे घोड़े की जरूरत ही क्या थी ? तो, घोड़े को आगे जुड़ना चाहिए या पीछे ? उसे आगे होना चाहिये या पीछे ?

तो, इस उदाहरण के प्रकाश में एक प्रश्न होता है—गुरु, नेता, चौधरी या नायक आगे चले या जनता, समाज अथवा राष्ट्र ? भारतीय संस्कृति में इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही स्पष्ट

रूप में दिया गया है। इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं—किसी पंथ, समाज अथवा राष्ट्र का गुरु या नेता ही आगे बढ़ता है, जनता तो उसके पीछे-पीछे चला करती है। मगर आज के गुरु और नेता इसके विपरीत सोचते है—वे केवल सोचते ही नहीं, व्यवहार में भी लाते हैं—तो मैं सोचता हूँ, ऐसे गुरुओं और नेताओं के जीवन में प्रकाश की किरणें अभी भी नहीं फूटी है। उन्होंने इन्सान की शक्ति को अभी जाना नहीं है—इसीलिए वे इस तरह से हारी-हारी बातें करते हैं।

मनुष्य अकेला रह कर अपने जीवन की यात्रा को तय नहीं कर सकता। उसे समाज में रहना है और उसका निर्माण भी करना है। जो बुराई है, उसे साफ़ करना है। अच्छाई को ग्रहण करने के लिए अपने हृदय को विशाल और दृढ़ बनाना है। ऐसे विशाल और दृढ़ मन की सभी को आवश्यकता है। तो, समाज या धर्म के अगुआओं को चाहिए कि वे अपने दिलों को विशाल और मजबूत बनाएँ। जिस सत्य को आगे-पीछे स्वीकार करते हैं, उसे सब के सम्मुख प्रकट करने का साहस भी दिखलायें। अगर उस सत्य को प्रकट करने पर इज्जत चकनाचूर होती है तो होने दो। ठोकरें खाने की नौबत आती है तो उन ठोकरों को प्रसन्नता-पूर्वक सहन करो। उस समय आपको यह कुछ भी नहीं सोचना है। आपको तो अपने सत्य के लिए, विचारों की सच्चाई के लिए, अपने, समाज, राष्ट्र और परिवार की वफ़ादारी के लिए जीवन के संघर्षों के अन्दर लड़ना है। रोते-रोते नहीं हँसते हुए

लड़ना है। आपत्तियाँ आयें, तब भी हँसते रहना है, प्रतिष्ठा मिले, तब भी मुस्कराना है। किसी भी दशा में फीके नही पड़ना है, हर समय मुस्कराते और हँसते रहना है।

तो, जीवन के दास नहीं, उसके स्वामी, उसके मालिक, उसके शहनशाह बन कर उसकी वासनाओं से लड़िए। अगर कोई असत्य परम्परा परिवार, समाज और राष्ट्र को हानि पहुँचा रही है तो उसके सम्बन्ध में सही निर्णय को स्वीकार करने के लिए सर्वदा तैयार रहिये। अपनी यह बात मैं धनवान् भाइयों से विशेष रूप से कहना चाहता हूँ—क्योंकि कोई भी अच्छी-बुरी परम्परा समाज में अधिक दिनों तक उन्हीं के कारण जीवित रह पाती है। वे सामर्थ्यवान् होते हैं—इसलिए बुरी या ग़लत परम्परा के कारण होने वाली हानि को वे बरावर सहन करते हुए चले जाते हैं। मगर इस बीच उससे होने वाली हानि के कारण समाज के साधारण व्यक्ति मर-मिटते हैं। तो, धनवान भाइयों का यह कर्त्तव्य है कि किसी भी ऐसी परम्परा को, जिसके कारण समाज की हानि हो रही हो, शीघ्र ही समाप्त करदें और उसके सम्बन्ध में होने वाले सही निर्णय को सहर्ष स्वीकार करें, जिससे ग़लत बात को अनुमोदन करने के कारण समाज की होने वाली हानि के पाप से बच जाँय।

तो, जीवन का शाश्वत धर्म, जो हर एक आत्मा के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए अपेक्षित है, वह जीवन की सच्चाई, जो अनन्त काल से आत्मा के साथ रही है और

सर्वदा रहेगी भी—तो, इस अमर तत्त्व को सर्वदा सुरक्षित रखना है। मगर किसी कारण जो भी ग़लत विचार-धारा आत्मा के भीतर प्रवेश पा गई है, उसको बाहर निकाल फेंकना है। तो, इस प्रकार जब आप आत्मा के विकार रूपी जंगल को साफ़ कर देंगे तो एक सुन्दर उपवन वहाँ पर दृश्यमान् हो जायेगा। आपके सुन्दर विचार, सुन्दर संकल्प, सुन्दर मन, सुन्दर वचन और सुन्दर कर्म ही उस उपवन में खिलने वाले विविध पुष्प होंगे, जिनकी मीठी सुगन्ध आपको, आपके परिवार को, समाज और राष्ट्र को जीवित जीवन का रसास्वादन आनन्दपूर्वक करा सकेगी। तो, सत्कर्म में लीन हुई आत्माएँ विकास के पथ पर आगे बढ़ेंगी—और जीवन की ऊँचाई पर सतत् रूप से चढ़ती हुई वे मोक्ष के मन्दिर तक पहुँच जायेंगी।

जब इसीलिए आपको इन्सान की शक्ल, इन्सान की ज़िन्दगी मिली है तो, वासनाओं में लिप्त रहकर उसे यूँ ही बर्बाद न कीजिए। मोक्ष के मार्ग पर स्वयँ भी आगे बढ़िये और परिवार, समाज और राष्ट्र को भी आगे बढ़ाइये। विश्व की आत्मा का कल्याण इसी विचार-धारा में निहित है।

जोधपुर
३०-८-५३

श्रीकृष्ण

आज अष्टमी है—तो, अष्टमी तो हर मास आती है और चली जाती है। कौन, उसकी इतनी अधिक चिन्ता करता है—कौन, उसके विषय में इतना सोचता है? तो, भाद्रपद मास के अँधियारे पाख की इस अष्टमी में ही ऐसी कौन सी विशेष बात है कि हम-सब यहाँ पर एकत्रित हुये हैं? क्या सोचकर आज यहाँ आये हैं और क्या लेकर यहाँ से जायेंगे? जब महाकाल के कराल गाल में लाखों अष्टमियाँ समा गईं और लाखों ही और भी समा जायेंगी—तो, किसी तिथि के साथ पवित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने का क्या अर्थ हो-सकता है? जब सब को निगल कर हजम कर लेने वाले काल की दृष्टि में पवित्रता और अपवित्रता का कुछ भी मूल्य नहीं है तो किसी तिथि या वार को हमारे

द्वारा पवित्र कहने से क्या होता है और किसी को अपवित्र कह देने से भी उसका क्या बनता-बिगड़ता है ? तो, इस सम्बन्ध में वास्तविकता तो यही है कि प्रत्येक दिन और प्रत्येक तिथि पवित्र है और प्रत्येक ही अपवित्र ! और महान् आत्माओं की याद तो प्रत्येक दिन ही करनी चाहिये। अगर उनकी याद प्रत्येक क्षण हृदय में रहेगी—तो, संभव है, एक दिन आप आत्म-कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ जाँय। संभव है, उन महापुरुषों की पवित्र वाणी आपके आचार में उतर जाय—तो, आप मोक्ष के मन्दिर में पहुँच जाँय। जीवन रूपी नौका के छेद बन्द हो जाँय—तो, इस असार संसार के पल्ली पार जा-पहुँचें।

मगर जो बात मैंने अभी-अभी आपसे कही, यह तो बहुत बड़ी बात है। अगर ऐसा ही सब करलें तो फिर बात ही क्या है ? तो, बात, तो असल में यह है कि अक्सर लोग ऐसा कर नहीं पाते हैं—करते भी नहीं हैं—इसीलिये यह जानते हुये भी कि महाकाल सब को उदरस्थ कर लेता है, हमारे ऋषि-महर्षियों ने, सभी की भलाई का ध्यान रख कर, महापुरुषों की याद करने के लिये कुछ विशिष्ठ तिथियाँ निर्धारित कर दी हैं। और इन तिथियों का चुनाव उन्होंने इस बात का ध्यान रखकर किया है कि किसी भी विराट् पुरुष को याद करने वाली तिथि उस विराट् पुरुष से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित अवश्य हो। इसीलिये अक्सर महान् आत्माओं की जन्म-तिथियाँ ही उनको याद करने के लिये निर्धारित की गई हैं। वास्तव में, संसार का

कोई भी विराट् पुरुष जब कभी भी अपने जन्म से किसी दिन अथवा तिथि को स्पर्श कर देता है तो वह दिन अथवा तिथि स्वयँ में कुछ आलोकमयी-सी जान पड़ने लगती है। इसी प्रकार उस महान् आत्मा को जन्म देने वाला भूमि-खण्ड, उसके महान् कार्यों से किसी भी रूप में सम्बन्धित उस भूमि-खण्ड के पहाड़, नदी, वन तथा उपवन तक स्पृहणीय शुचिता की सुगन्ध से सुवासित से जान-पड़ने लगते हैं। और फिर, इन सबका महत्त्व हजारों-लाखों वर्षों तक आँका जाता रहता है।

तो, भाद्रपद मास की यह अष्टमी भी वास्तव में इसीलिये पवित्र और महत्त्वपूर्ण है—क्योंकि अलौकिक पुरुष श्रीकृष्ण का जन्म इसी अष्टमी को हुआ था। मथुरा नगरी इसीलिए प्रसिद्ध है—क्योंकि भूमि के इसी खंड में श्रीकृष्ण ने जन्म ग्रहण किया था। ब्रज-प्रदेश इसीलिए दर्शनीय माना जाता है—क्योंकि श्री कृष्ण के महान्-कार्यों की छाप इस भूमि के पहाड़, नदी, वन और उपवनों पर गहरी होकर अपना रूप सँवारे बैठी है। उनकी महत्ता इस भूमि के कण-कण पर अंकित है। और क्योंकि द्वारका-पुरी के साथ भी श्रीकृष्ण के अद्भुत कार्य-कलापों का सम्बन्ध रहा है, इसीलिए द्वारकापुरी भी अपना एक अलग महत्व रखती है।

तो, इस अष्टमी की महत्ता इसीलिए है कि अलौकिक शक्ति-सम्पन्न श्रीकृष्ण ने आज के दिन ही जन्म धारण किया था—अन्यथा श्रीकृष्ण के जन्म से पहिले इसी मास की ये ही

अष्टमियाँ हजारों की संख्या में आईं और चली गईं, मगर किसने कब उनकी परवाह की। लेकिन जब विराट पुरुष श्रीकृष्ण के जन्म की मोहर इस अष्टमी पर लग गई—तब से अब तक न जाने संसार में कितनी राज्य-क्रान्तियाँ हो गईं—कितने पुराने राज्य समाप्त हो गये और उनके स्थान पर कितने नये राज्य स्थापित हो गये—कितने सोने के सिंहासन बने, बिगड़े और फिर बने; मगर श्रीकृष्ण के जन्म से सम्बन्धित यह अष्टमी आज भी अपना वही महत्वपूर्ण स्थान लोगों के दिल में बनाये हुए है। अभी भी उसकी महत्ता में कुछ भी अन्तर नहीं हो पाया है। भारतवासियों के लिए वह आज भी उतनी ही स्फूर्तिदायक और उल्लासमयी होकर वरदान-स्वरूपा सिद्ध हो रही है। वह आज भी उनको उतना ही उल्लसित और आत्म-विभोर कर देती है, जितना कि पहले कभी! वास्तव में, भारतवासी आज के दिन बरबस अपने एक महान् पूर्व-पुरुष के वास्तविक चरित्र की झाँकी कर कृत-कृत्य हो जाते हैं। आज की अष्टमी उनमें एक नया उत्साह, नया जोश भर देती है; मगर दुख इस बात का है कि वे अपने इस उत्साह को अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रख पाते—जिससे सब कुछ गुड़-गोबर हो जाता है। जब जीवन की राह को पकड़कर भी वे उसे दो-चार दिनों बाद ही छोड़ देते हैं—तो, सच्चे अर्थों में अपने जीवन की मन्ज़िल को हस्तगत् नहीं कर पाते। मन्ज़िल को हस्तगत् नहीं कर पाते—तो, अपने हजारों-लाखों पूर्व-जन्मों के समान ही इस मूल्यवान जन्म को भी यूँ ही बरबाद कर लेते हैं।

अभी-अभी मैं आपसे कह रहा था कि और अष्टमियों की भाँति इस अष्टमी में भी स्वयं की कोई विशेषता नहीं है। तो, विशेषता इस अष्टमी की केवल यही है कि हजारों वर्ष पूर्व इस अष्टमी को ही महान्-आत्मा श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था—और क्योंकि कृष्ण एक महापुरुष थे, इसीलिये इस अष्टमी का आज इतना महत्त्व बढ़ गया है। तो, अष्टमी के विषय में तो बोलना और समझना ही क्या है—तो, दरअसल समझना तो उस अलौकिक पुरुष श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में है। जिसके स्पर्श-मात्र से ही यह अष्टमी इतनी गौरव-शालिनी बन गई है।

जब किसी भी भारतीय जीवन-ग्रन्थ में, चाहे वह वैदिक परम्परा का हो, चाहे जैन-परम्परा का, कृष्ण के जीवन की दो-चार गाथाएँ पढ़ते हैं—तो, उस समय के भारत की संस्कृति हमारे नेत्रों के सम्मुख आकर खड़ी हो जाती है। उस समय के भारत की राजनैतिक वे उलझनें, जिनके बीच कृष्ण का जन्म हुआ, हमें साफ साफ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। और हम देखते हैं कि उस समय भारत को एक ओर तो जरासंध की विकट शक्ति दबा रही थी और दूसरी ओर मथुरा में कंस राज्य कर रहा था। और ये दोनों ही राजा निरंकुश राजा थे। अपनी ही स्वप्नों की दुनियाँ में विहार करने वाले! जिस प्रजा पर ये राज्य करते थे, अपनी उस प्रजा के सुख-दुख से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था, मानो, उनके जीवन का तो यही उद्देश्य था—प्रजा उनको रोती है तो रोया करे; मगर उनकी सुख और खुशी की

अष्टमियाँ हजारों की संख्या में आईं और चली गईं, मगर किसने कब उनकी परवाह की। लेकिन जब विराट पुरुष श्रीकृष्ण के जन्म की मोहर इस अष्टमी पर लग गई—तब से अब तक न जाने संसार में कितनी राज्य-क्रान्तियाँ हो गईं—कितने पुराने राज्य समाप्त हो गये और उनके स्थान पर कितने नये राज्य स्थापित हो गये—कितने सोने के सिंहासन बने, बिगड़े और फिर बने; मगर श्रीकृष्ण के जन्म से सम्बन्धित यह अष्टमी आज भी अपना वही महत्वपूर्ण स्थान लोगों के दिल में बनाये हुए है। अभी भी उसकी महत्ता में कुछ भी अन्तर नहीं हो पाया है। भारतवासियों के लिए वह आज भी उतनी ही स्फूर्तिदायक और उल्लासमयी होकर वरदान-स्वरूपा सिद्ध हो रही है। वह आज भी उनको उतना ही उल्लसित और आत्म-विभोर कर देती है, जितना कि पहले कभी! वास्तव में, भारतवासी आज के दिन बरबस अपने एक महान् पूर्व-पुरुष के वास्तविक चरित्र की झाँकी कर कृत-कृत्य हो जाते हैं। आज की अष्टमी उनमें एक नया उत्साह, नया जोश भर देती है; मगर दुख इस बात का है कि वे अपने इस उत्साह को अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रख पाते—जिससे सब कुछ गुड़-गोबर हो जाता है। जब जीवन की राह को पकड़कर भी वे उसे दो-चार दिनों बाद ही छोड़ देते हैं—तो, सच्चे अर्थों में अपने जीवन की मन्ज़िल को हस्तगत् नहीं कर पाते। मन्ज़िल को हस्तगत् नहीं कर पाते—तो, अपने हज़ारों-लाखों पूर्व-जन्मों के समान ही इस मूल्यवान जन्म को भी यूँ ही बरबाद कर लेते हैं।

अभी-अभी मैं आपसे कह रहा था कि और अष्टमियों की भाँति इस अष्टमी में भी स्वयं की कोई विशेषता नहीं है। तो, विशेषता इस अष्टमी की केवल यही है कि हज़ारों वर्ष पूर्व इस अष्टमी को ही महान्-आत्मा श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था—और क्योंकि कृष्ण एक महापुरुष थे, इसीलिये इस अष्टमी का आज इतना महत्त्व बढ़ गया है। तो, अष्टमी के विषय में तो बोलना और समझना ही क्या है—तो, दरअसल समझना तो उस अलौकिक पुरुष श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में है। जिसके स्पर्श-मात्र से ही यह अष्टमी इतनी गौरव-शालिनी बन गई है।

जब किसी भी भारतीय जीवन-ग्रन्थ में, चाहे वह वैदिक परम्परा का हो, चाहे जैन-परम्परा का, कृष्ण के जीवन की दो-चार गाथाएँ पढ़ते हैं—तो, उस समय के भारत की संस्कृति हमारे नेत्रों के सम्मुख आकर खड़ी हो जाती है। उस समय के भारत की राजनैतिक वे उलझनें, जिनके बीच कृष्ण का जन्म हुआ, हमें साफ़ साफ़ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। और हम देखते हैं कि उस समय भारत को एक ओर तो जरासंध की विकट शक्ति दबा रही थी और दूसरी ओर मथुरा में कंस राज्य कर रहा था। और ये दोनों ही राजा निरंकुश राजा थे। अपनी ही स्वप्नों की दुनियाँ में विहार करने वाले! जिस प्रजा पर ये राज्य करते थे, अपनी उस प्रजा के सुख-दुख से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था, मानो, उनके जीवन का तो यही उद्देश्य था—प्रजा उनको रोती है तो रोया करे; मगर उनकी सुख और खुशी की

दुनियाँ हर सूरत में आबाद रहनी चाहिए। और ठीक इसी घिनौने रूप में और कुमार्ग पर उनकी जीवन-यात्रा आगे बढ़ रही थी। तो, देशवासियों की इज्जत और उनके प्राण हर समय संकट में रहते थे—इसीलिए सभी के जीवन में घोर-निराशा के बादल सर्वदा छाये रहते थे। अपने दुःख से दुःखी जनता कराहती रहती थी।

और आज के दिन उपवास करने का अर्थ यही जान पड़ता है। मानो, आज के दिन भूखे रह कर आज के लोग यह बतलाते हैं कि जब उद्धार-कर्त्ता श्रीकृष्ण का जन्म हुआ तो उस समय की प्रजा इसी प्रकार भूखी और नंगी थी। अन्यायी राजा के राज्य में भूखी और नंगी रह कर वह तड़पती और बिलखती रहती थी; मगर मुँह से राज्य के खिलाफ़ एक शब्द भी नहीं निकाल सकती थी। वह चाहती तो थी कि उसका उद्धार हो, मगर अन्यायी और बलशाली राजा के सम्मुख उसका नैतिक बल औंधे मुँह पड़ा हुआ था। उसका साहस खो गया था—और उसका रहनुमा या अगुआ कोई भी नहीं था। तो, अगुआ के अभाव में प्रजा बेकस और बेबस थी। और सोचती थी कि कोई दैवी-शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति ही उसका उद्धार कर सकता है; अन्यथा उसे इसी प्रकार रोते-रोते ही दिन बिताने हैं और जीवन गुजार देना है। और वास्तव में, इसी आशा के बल पर इन निकम्मे राजाओं की प्रजा अपनी जिन्दगी के दिन गिन-गिन कर बिता रही थी। दरअसल ये अन्यायी राजा स्वयं

भी बलशाली थे और राज्य-भर के सभी बलशालियों को अपने दरबार में चाकर के रूप में रखते थे—जिससे कोई भी सामर्थवान् प्रजा का सहायक न हो पाता था। दुःखी जनता का अगुआ न हो पाता था। और प्रजा दुःखी थी।

और ऐसे ही कठिन समय में देवकी के गर्भ से कृष्ण का जन्म हुआ। ससार में कुछ लोगों का जन्म राज-महलों में होता है—राजमहलों में ही उनका पालन-पोषण होता है और उन महलों में ही उनकी मृत्यु भी! मगर अधिकांश लोग झोंपड़ियों और कच्चे-पक्के मकानों में प्रथम बार इस ससार में अपनी आँखें खोलते हैं और फिर एक दिन सदाँ के लिए उन्हीं मकानों और झोंपड़ियों में अपनी आँखें बन्द भी कर लेते हैं। लेकिन कृष्ण, कस राजा के क़ैदखाने में उत्पन्न होते हैं। और वह भी इतने भयंकर समय में, जबकि मृत्यु उनके चारों ओर मंडरा रही थी। जब साहित्य में इस वर्णन को पढ़ते हैं तो रोमांच हो आता है। वास्तव में, बहुत ही भयंकर समय रहा होगा वह! जो निर्दयी, देवकी के सात बच्चों को जन्म लेते ही पत्थर पर पटक कर यमलोक पहुँचा चुका था, वह भला इस आठवें बच्चे को भी किस प्रकार जीवित रहने दे-सकता था। किन्तु जिसका जन्म ही संसार के कल्याण के लिए हुआ था, जो जगत् में प्रकाश करने के लिए ही आया था, उसको कंस किस प्रकार मार सकता था—और मार सका भी नहीं! उस विभूति पर भी मौत की काली छाया प्रतिपल मँडराई, मगर उस अखण्ड ज्योति ने अपने पौरुष

से उसे परास्त कर दिया। यह महान् आत्मा कंस के क़ैदखाने से ऐसे निकल कर चली गई कि कंस को पता भी न लगा। वह जान भी न सका कि जनता को उसके ज़ुल्मों से त्राण दिलवाने वाला पैदा हो गया और उसकी क़ैद से साफ़ बचकर निकल भी गया।

अनेक लोग आम-तौर से कहा करते हैं कि क्या करें, परिस्थितियाँ अनुकूल ही न मिलीं—अन्यथा हम भी जीवन में कुछ कर दिखाते—अथवा कर सकते हैं। और कुछ कहा करते हैं, सोचते कुछ हैं, मगर होता उसके विपरीत है। अपनी परिस्थितियों पर हम अधिकार करने का भरसक प्रयत्न करते हैं; मगर वे हमारे अधिकार में आ-नहीं पातीं। और जब परिस्थितियाँ अधिकार में नहीं आ-पातीं—तो, कुछ कर भी नहीं पाते। तो, ऐसे निराश व्यक्तियों से मैं कहना चाहूँगा—कि कृष्ण रूपी इस महाशक्ति से वे प्रेरणा लें। वे इस बात को भली प्रकार से समझने का प्रयत्न करें कि इच्छा रखते हुए और प्रयत्न करते हुये भी अगर परिस्थितियाँ उनके अनुकूल नहीं हो-पा रही हैं—तो, इसका एक-मात्र कारण उनकी कार्य-प्रणाली का दोष-युक्त होना है। फिर, चाहें उनकी यह कार्य-प्रणाली उनके आलस्य के कारण हो, उनके चारित्र की कमी के कारण हो, उन के लोभी अथवा स्वार्थी स्वभाव के कारण हो—अथवा और किसी कारण से हो। तो, कार्य-दिशा में परिस्थिति को अनुकूल बनाने के लिए उन्हें उस दोष को, उस कारण को खोज निकालना

ही होगा। और जहाँ वह दोष आपको मालूम पड़ा—और उसे आप दूर कर पाये कि परिस्थितियाँ आपके अनुकूल हुई नहीं।

तो, जीवन में कुछ करने के लिए आप अपनी परिस्थितियों के दास नहीं, स्वामी बनना सीखिये। अगर आप अपनी परिस्थितियों के स्वामी बन सके तो जीवन में सब कुछ कर सकेंगे—और अगर उनके दास ही बने रह गये—तो, फिर कुछ करने-धरने का स्वप्न देखना भी एक दम पल्ले सिरे की मूर्खता है। उसके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का ज़िक्र करना भी अव्वल दर्जे की बेवकूफ़ी है। फिर तो यही सोचकर चुप रहना ठीक है—कि तुमने जीवन का बोझ ढोने की इच्छा की थी—और उसी के लिए तुमने प्रयत्न भी किया—और अपने उसी कार्य में तुमको सफलता भी मिली। और बस,

मै अभी-अभी आपसे कह रहा था कि प्रकाश के पुंज कृष्ण का जन्म कंस राजा के क़ैदख़ाने में हुआ। मगर क्योंकि उन्होंने संसार को प्रकाश देने के लिए जन्म ग्रहण किया था, इसलिये वह उस क़ैद से बाहर निकल गये। मौत की छाया से दूर चले गये। तो, जब आत्मा की शक्ति इतनी विशाल है कि एक नवजात्-शिशु के पिंड में रहते हुये भी वह अपने निर्धारित मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अपने मार्ग की सभी कठिनाइयों को पीछे धकेल सकती है—तो, फिर आपकी आत्मा तो क्या-कुछ नहीं कर सकती। तो, अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए अपनी आत्मा को उज्ज्वलतर बनाने का प्रयत्न करो।

उसे आचरण-हीनता, मिथ्यातत्त्व आदि मैलों से ढको मत—वल्कि शुद्ध और सात्विक विचार और आचरण की सहायता से उसे निर्मल वनाओं—तो, फिर जीवन की प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति आपके अनुकूल वनती चली जाएगी और आप अपने निर्धारित मार्ग पर बरावर आगे वढ़ते चले जायेंगे। तो, आपको फिर यह शिकायत न होगी कि आप इसलिये जीवन में कुछ नहीं कर पा रहे—क्योंकि आपकी परिस्थितियाँ आपके अनुकूल नहीं हैं।

जब मैं लोगों को यह कहते हुये सुनता हूँ कि क्या करें, परिस्थितियाँ ही प्रतिकूल हैं—अन्यथा हम भी कुछ करते—तो, मुझे वहुत ही ताज्जुब होता है। और फिर सोचने लगता हूँ कि ये तो जीवन-भर परिस्थितियों का रोना ही रोते रहेंगे—और एक दिन इसी प्रकार रोते-रोते यहाँ से कूँच कर जायेंगे। वास्तव में, ये लोग तो यह चाहते हैं कि प्रयत्न के नाम पर तो कुछ भी न करना पड़े और सोने के सिंहासन वनकर तैयार हो जाँय। और जब वे सिंहासन वनकर तैयार हो जाँय तो उन पर इनको वैठा दिया जाये। तो, ऐसे व्यक्तियों से मैं कहना चाहूँगा कि इस गलत और वेहूदी जुस्तजू में अवतक हजारों-लाखों व्यक्ति इस सफ्ये-हस्ती से मिट गये और करोड़ों और भी मिट जायेंगे, मगर ये जीवन में कुछ भी न कर सकेंगे। न इस वेवकूफी में फंसे रहने वाले कुछ कर पाये और न आगे आने वाले ही कुछ कर पायेंगे। इतिहास साक्षी है, साधारण आदमी की तो वात ही क्या है, इस

मूर्खता में फँसे हुए अनेक राज्य समाप्त हो गये। और आज उनके लिए कोई रोने वाला तक मयस्सर नहीं है।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में आप सभी ने थोड़ा-बहुत पढ़ा है—तो, मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, कि कृष्ण को कब और कौनसी परिस्थिति अनुकूल मिली? और मैं जानता हूँ जो कुछ कि उत्तर आप मेरे इस प्रश्न के उत्तर में देंगे। आप कहेंगे कि एक भी नहीं और कभी भी नहीं—क्योंकि श्रीकृष्ण का चरित्र आपके सामने खुला पड़ा है और आप खोज करने पर भी एक भी परिस्थिति को उनके अनुकूल नहीं पाते। तो, जलती हुई लालटेन को खरगोश की चमकती हुई आँख कैसे बतला सकते हैं! तो, जब नहीं बतला सकते—तो, इतिहास के उन पन्नों पर इतना देखने का और प्रयत्न कीजिये कि परिस्थतियाँ श्रीकृष्ण के अनुकूल नहीं थीं—यह बात केवल यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि इसके विपरीत यह बात और सामने आती है कि परिस्थितियाँ तो जीवन-भर अपने महा-विकराल रूप में उनके प्रतिकूल रहीं। तो, परिस्थितियों के अनुकूल होने का तो वहाँ प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। साथ ही यह देखने और पढ़ने को और मिलता है कि श्रीकृष्ण का जिस यादव जाति में जन्म हुआ—उसे तक मिटा डालने का प्रयत्न उस समय के अनेक राजा करते रहे। इस क़ौम को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए दुश्मनों की तलवारें बराबर चमकती रहीं।

मगर तेजस्वी श्रीकृष्ण इन बातों से घबराये नहीं और न

कभी उन्होंने अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों की ही चिन्ता की। उन्होंने तो सर्वदा प्रतिकूल परिस्थितियो में होकर ही अपना मार्ग बनाया और जीवन-पर्यन्त निरन्तर अबाध-गति से अपने मार्ग पर आगे बढ़े। उन्होंने अनुकूल परिस्थितियों का कभी भी इन्तजार न किया। वह तो अपने उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त बराबर आगे बढ़ते चले गये और प्रतिकूल परिस्थितियों का रोना लेकर कभी भी न बैठे—इसीलिए अपने जीवन में वह सब कुछ कर भी सके और अमर-पद भी उन्होने प्राप्त किया। तो, जो लोग प्रतिकूल परिस्थितियों का रोना लेकर बैठ जाते हैं, वे मुर्दे नहीं है तो और क्या हैं? क्या वे जीवित व्यक्ति कहे जा-सकते हैं? मेरी समझ में तो नहीं—क्योंकि जीवित शक्तियाँ तो जीवन का प्रकाश लेकर आती हैं। और अपने उसी प्रकाश से वह स्वयँ भी चमकती हैं और संसार को भी चमका देती हैं। तो, ऐसी जीवित शक्तियों की फिर परिस्थितियाँ भी दासी बनकर रहती हैं, उनकी मालकिन बनकर नहीं। और अन्त में यही जीवित और प्रकाशवान् शक्तियाँ ही विश्व मैत्री के प्रकाश से संसार को चमका जाती हैं।

तो, नदी के अनुकूल प्रवाह में तो मुर्दे बहा करते है और सैकड़ों मील तक बहे चले जाते हैं। कहा भी है—

अनुकूल प्रवाह, वातावरण अथवा परिस्थितियों का इन्तजार तो मुर्दे किया करते हैं—जीवित या जानदार नहीं। बलिष्ठ और जानदार भुजाओं वाला नाविक धार या बहाव के विपरीत अपनी नाव को खेता चला जाता है और एक दिन

अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है; मगर बहाव का इन्तजार करने वाले अपने उसी स्थान पर पड़े रह जाते हैं—और तब तक पड़े ही रहते हैं, जब तक अनुकूल प्रवाह उन्हें नहीं मिल जाता—तो, अनुकूल प्रवाह तो, मुमकिन है, जीवन-भर भी न मिले और अनेक जन्मों में भी न मिले—और मिल नहीं पाता भी है—तो, अनेक जीवन मनुष्य के यूँ ही बीत जाते हैं और तब दुनियाँदारी की कीचड़ उसे बुरी तरह से अपने में जकड़ लेती है—फिर वह अनुकूल वातावरण अथवा प्रवाह पाकर भी बहने की इच्छा नहीं करता। बह नहीं पाता और उसके हजारों जन्म संसार रूपी कीचड़ में फँसे-फँसे ही बीत जाते हैं। उस प्राणी की आत्मा पर मैल के इतने आवरण चढ़ जाते हैं कि आत्मा का प्रकाश उन आवरणों के गहरे गर्त में समा जाता है। विलुप्त-प्राय: हो जाता है।

मगर जब हम इस दृष्टिकोण से कृष्ण के जीवन को देखते हैं—तो, उनकी आत्मा पर हमें मैल का एक भी आवरण चढ़ा हुआ दिखलाई नहीं देता—इसके विपरीत वह तो अपने तेजोमय प्रकाश से दम-दम कर दमकती हुई दिखलाई पड़ती है। उनका जीवन अपने प्रारम्भिक क्षण से लेकर अंतिम क्षण तक जीवन की सर्वोत्तम ऊँचाई के साथ अठखेलियाँ करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। घोर विपरीत परिस्थितियों में भी उनका मन उत्साह और उमंग में नाचता हुआ-सा दिखलाई देता है। यही कारण है जो वह कभी भी बचपन और बुढ़ापे का अनुभव न कर सर्वदा

यौवन-सम्पन्न ही अपने-आपको समझते हैं और जीवन में ऐसे ऐसे कठिन कामों को अनायास ही कर डालते हैं—कि आज जब हम उनके उन कार्य-कलापों के सम्बन्ध में पढ़ते हैं तो आश्चर्य-चकित होकर ठगे-से रह जाते है।

वास्तव में, कृष्ण के जीवन में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है कि वह कभी भी अपनी विपरीत परिस्थिति की बात सोच-सोच कर आँसू बहाते रहे हों। उन्हे तो हम अनुकूल और विपरीत दोनों ही प्रकार की परिस्थितियों में मुस्कराते और अँगड़ाई लेते हुये ही देखते हैं। जब उन पर फूलों की वर्षा हुई, तब भी वह मुस्कराए और जब उनके शीश पर मौत मँडराती रही, तब भी वह मुस्कराते ही रहे। दुःख में वह घबड़ाये नहीं और सुखों में वह अपने कर्त्तव्यों को भूल कर ऐश-आराम में डूब नहीं गये। वह तो जीवन-भर जीवन के महान् सिद्धान्तों का पालन करते हुए सर्वदा अपने कर्त्तव्य-पथ पर निरन्तर आगे और आगे ही बढ़ते रहे। वास्तव में, कर्त्तव्यों के पालन में ही उन्होंने आनन्द—सत्-चित्-आनन्द का अनुभव किया।

जीवन-दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में कहा गया है—

जीवन उसी का महान् है, जो जीवन में हार खाकर बैठ नहीं जाता है, बल्कि निरन्तर प्रयत्न में ही सलंग्न रहता है। पुरुषार्थ करने में ही जो आनन्द का अनुभव करता है।

और जब दर्शन की इस वाणी के समुज्ज्वल प्रकाश में हम श्रीकृष्ण के जीवन को देखते हैं तो प्रतिपल और प्रत्येक

परिस्थिति में उन्हे कार्य में रत हो पाते हैं। उन्हे जीवन की और समाज की बुराइयों से लड़ते हुए ही देखते हैं। और इस रूप में उन्हें देखते हुए हमें सहसा ही यह भास होने लगता है कि जीवन के क्षेत्र में ऐसी कोई भी सेवा नहीं है, जो उन्होंने न की हो। सेवा का ऐसा कोई भी अंग नहीं है, जो उन्होंने न छुआ हो। जीवन के क्षेत्र में जिस पर उन्होंने प्रकाश न डाला हो।

वह ऐसा युग था, जब मनुष्य अपनी आत्मा के महान् गौरव को भूलकर देवी और देवताओं की सत्ता के जाल में बुरी तरह से जकड़ गया था। रात-दिन हाथ-बाँधे उनकी मिन्नतें करता था और यह बिल्कुल भूल गया था कि वह स्वयँ भी बहुत-कुछ सामर्थ रखता है और बहुत-कुछ करने की हिम्मत भी! उसने अब तक किया भी बहुत है और अगर अपनी महत्ता को एक बार फिर समझ जाये तो कर भी बहुत-कुछ सकता है। और श्रीकृष्ण ने इस तथ्य को इसी रूप में देखा—और इसके लिए उन्होंने प्रयत्न भी किया। उन्होंने इसके लिए अपनी आवाज़ बुलन्द की और कहा—ओ मानव! तेरी शक्ति संसार में सर्वोपरि है! मगर जब तू अपनी इस शक्ति को भूल जाता है-तो, अपनी शक्ति से निम्न-कोटि की शक्तियों के सम्मुख कर फैलाता है, याचना करता है, गिड़गिड़ाता है; लेकिन जब तुझे फिर अपनी शक्ति का ध्यान आता है—तो, तू फिर उठ-खड़ा होता है और जीवन के क्षेत्र में जूझ पड़ता है—आगे बढ़ता है और बढ़ता ही चला जाता है। तो, मानव! अपनी शक्ति को पहिचान!

उठ—और जीवन की प्रत्येक बुराई से लड़, समाज की प्रत्येक बुराई से जूझ पड़। -

श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण द्वारा प्रचारित ये सन्देश हमें स्थल-स्थल पर दीख पड़ते हैं। आप सभी जानते हैं, श्रीकृष्ण का पालन-पोषण गोकुल में नन्द और यशोदा के द्वारा हुआ। उनका बालपन गोकुल के ग्वालों के बीच व्यतीत हुआ। वर्णन आता है कि उन दिनों गोकुल में इन्द्र-पूजा का आयोजन बड़ी तैयारियों के साथ हुआ करता था। गोकुल का प्रत्येक निवासी अपनी सामर्थ्य से आगे बढ़ कर पूजा के इस उत्सव को मनाया करता था। न जाने क्यों, उस दिन उसकी खुशी का पारावार नहीं रहता था। और एक दिन जब श्रीकृष्ण के सम्मुख भी इस उत्सव का आयोजन बड़ी धूमधाम से हुआ—खुशी के मारे सभी को उछलते-कूदते उन्होंने देखा—तो, उन्होंने जिज्ञासावश पूछ लिया—और अपने इस प्रश्न के उत्तर में सभी को एक ही बात कहते हुए उन्होंने सुना—आज इन्द्र की पूजा का दिन है। यह हमारी जाति के मंगल के लिये बहुत बड़ा महोत्सव है। तो, उम्र के लिहाज से बच्चे; मगर आत्मा की दृष्टि से परिपक्व अवस्था के पुरुष श्रीकृष्ण ने नन्द बाबा के सम्मुख, इस सम्बन्ध में, जो अपना वक्तव्य दिया, वह महान् है और इन्सान को इन्सानियत की याद दिलाने के लिए परम उपयोगी!

सभी लोगों के मुँह से इन्द्र-पूजा के सम्बन्ध में सुनकर श्रीकृष्ण नन्द बाबा से कहने लगे—किसी भी कर्म को करने से

पहले मनुष्य को उसके विषय में काफ़ी सोच-विचार कर लेना चाहिए। उस कर्म को करने से पहिले, विचारों के प्रकाश में, यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए—कि हमारे द्वारा सम्पन्न होने वाले उस कर्म के द्वारा समाज कितने अंशों में लाभान्वित हो रहा है! अगर जाति की भलाई के लिए वह कर्म है–तो, देखना चाहिए कि जाति के लोग उस कर्म के द्वारा कितने अंशो में उन्नत्ति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। वे वीर बनते जा रहे हैं या कायर! जीवन की बुराइयों से लड़ने के लिए उनमें शक्ति उत्पन्न हो रही है या उनमें कायरता भरती चली जा-रही है। आपके उस कर्म के कारण जीवन का वास्तविक स्वरूप सामने आ रहा है या मनुष्य अपने जीवन की सचाई से दूर हटता चला जा-रहा है। किसी कर्म को पूर्व-पुरुष क्योंकि करते रहे हैं, इसलिए हम भी करते हैं—अथवा जाति के अधिकाँश लोग करते हैं—इसीलिए हम भी करते हैं—किसी ऐसे प्रश्न के उत्तर में यह उत्तर देना उस व्यक्ति की कोई अक्लमंदी की बात नहीं समझी जा-सकती। उस प्रश्नकर्त्ता को आपका यह उत्तर सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उसकी शंका का समाधान नहीं कर सकता—क्योंकि आपका यह उत्तर जीवन की अच्छाइयों पर प्रकाश नहीं डालता। उस कर्म की महत्ता के विषय में संकेत नहीं करता। उसकी उपयोगिता को नहीं बतलाता।

तो, जो व्यक्ति अथवा जाति इस प्रकार बिना सोचे-समझे कोई कर्म करती है, वह उन्नति के पथ पर कभी भी अग्रसर नहीं

हुआ करती। इसके विपरीत वह निरन्तर अधोगति को प्राप्त होती है और एक दिन इस संसार से मिट जाती है। किसी कर्म के औचित्य- अनौचित्य पर विना विचार किये उस कर्म को करते चले जाना तो मूर्खता ही कही जा सकती है। क्या इस तरह परम्परा के मुर्दे को ढोते रहना अक्लमदी है?

और कृष्ण की इस वात को सुनकर नन्द कहने लगे—हम पशुओं का पालन और कृषि का कार्य करने वाले हैं—और हमारे इन दोनों ही कार्यों की सफलता उचित समय पर होने वाली उपयुक्त वर्षा पर निर्भर है। और कृष्ण, वर्षा इन्द्र की कृपा से होती है। वह देवताओं के राजा और वर्षा करने वाले हैं। तो, इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए ही हम उनकी पूजा करते हैं। बढ़िया-बढ़िया पकवानों से उनका भोग लगाते हैं। नाच गाकर उनको रिझाते हैं—ताकि वह हम पर प्रसन्न हों और जल की धाराओं से हमारी भूमि को सींच दें—तो, हमारी यह पृथ्वी हरियाली से लहलहा उठे। हमारे अन्न-भंडार अन्न से लबालब भर जाँय।

तो, हमारे पालन-पोषण करने वाले इन्द्र देवता ही हैं। अगर वह नाराज हो जाँय—तो, एक बूंद भी पानी न गिरे और सूखी पृथ्वी पर एक दाना भी पैदा न हो—तो, अकाल हमारे पशुओं और हम सभी को [illegible] करले। हम [illegible] समाप्त ही हो जाँय। संसार से हमा[illegible] मिट ज[illegible]

इन्द्र महा[illegible] हैं [illegible]! उनको नाराज

करना उचित नहीं।

आपने देखा, नन्द महर के इस कथन में कितनी परवशता छिपी है। वह समझते हैं कि खाने और पहिनने के लिए जो कुछ भी उन्हें मिलता है, वह सब इन्द्र के द्वारा। अगर इन्द्र नाराज़ हो जाये तो वह भूखों ही मर जाँय। तो, इससे अधिक और मनुष्य की कायरता क्या हो-सकती है। अपने, पुरुषार्थ पर विश्वास न करना और किसी दूसरे के सहारे जीवित रहने की बात सोचना—मनुष्य की कितनी बड़ी अधोगति है। मै पूछता हूँ—क्या इस प्रकार के विचार रखने और अपने आचार मे उतारने वाली क़ौमें क्या कभी संसार में जीवित रहा करती हैं? नहीं, कभी भी नहीं। यह तो मनुष्य की सबसे बड़ी बुज़दिली है, जिसे कोई भी विराट् भावनाओं वाला मनुष्य स्वीकार नहीं कर सकता—और संसार को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करने की कामना रखने वाले कृष्ण ने भी स्वीकार नहीं किया। और वह कहने लगे—

यह तो प्रकृति का अपना व्यौपार है। प्रकृति में रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण नामक तीन शक्तियाँ प्रतिपल अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। एक क्षण भी बिना रुके, जड़ और चेतन में, ये शक्तियाँ बराबर अपना कार्य करती रहती हैं—और रजोगुण नामक शक्ति के कारण ही यह वर्षा होती है—तो, फिर इसमें इन्द्र का हाथ किस प्रकार हुआ। इन्द्र बेचारा कर भी क्या सकता है। मेरी इस बात को

समझिये और इन्द्र-पूजा करना आज से ही बन्द कर दीजिए। पुरुषार्थ के द्वारा ही मनुष्य अनेक वस्तुओं को उत्पन्न करता है—जीवन की इस वास्तविकता को समझने का प्रयत्न कीजिए, जिससे जीवन की यह विडम्बना आपसे दूर जाकर खड़ी हो जाये और जीवन का वास्तविक सत्य निखर कर आपके सम्मुख आकर खड़ा हो जाये।

वास्तव में, श्रीकृष्ण के इस वक्तव्य रूपी भवन का निर्माण सत्य रूपी नींव पर हुआ है—इसीलिए वह भवन आज भी हमारे नेत्रों के सम्मुख ज्यों का त्यों खड़ा है। हजारों वर्षों का व्यवधान भी उस पर अपना लेशमात्र भी प्रभाव नहीं डाल सका है। यही कारण है, जो वह आज भी अपने देदीप्यमान प्रकाश को संसार के चारों कोनों में बिखेरता हुआ मानव को उसके जीवन की वास्तविकता के दर्शन करा रहा है। उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर कर रहा है।

तो, चाहे वह भागवत् में हो अथवा आगमों में लिपिबद्ध हुई हो, सुधारकों की वाणी सब जगह एक-सी ही है। उसमें कहीं भी लेश-मात्र भी अन्तर नहीं है। सर्वदा जीवन के सत्य को लेकर ही ये महापुरुष आगे बढ़े हैं और जन-कल्याण वाले इस एक ही उद्देश्य को हमेशा उन्होंने अपने जीवन में सँजोया है। यही कारण है, जो उनकी वाणी में कहीं भी और तिल भर भी अन्तर नहीं हो पाया है। क्या वैदिक-धर्म, क्या जैन-धर्म और क्या बौद्ध-धर्म—संसार का कोई भी धर्म सत्य की अवहेलना

नहीं करता। मानव-धर्म की उपेक्षा नहीं करता। ज्ञान के प्रकाश को छोड़ देने और अज्ञान के अंधकार को प्राप्त करने के लिए प्रेरित नहीं करता। हिंसा की वकालत नहीं करता। और न चौर्य को अच्छा और अचौर्य को बुरा ही बतलाता है। परिग्रह की भी हिमायत नहीं लेता है। जीवन के उच्चादर्शों की ओर से आँखें बन्द कर लेने के लिए भी नहीं कहता है। इसीलिये सभी सुधारकों की वाणी अमृतमयी, ज्ञानमयी और जीवनमयी है।

श्रीकृष्ण जब नन्द से यह कहते हैं कि प्रकृति की रजोगुण नामक शक्ति मेह बरसने का कारण बनती है, इन्द्र इसमें कुछ भी नहीं करता—तो, इस कथन से उनका यही तात्पर्य है कि जब मानव अपने जीवन के सत्य को जान लेगा तो वह अज्ञान के अंधकार से दूर हट जायेगा। अज्ञान के अंधकार से दूर हट जायेगा—तो, ज्ञान का प्रकाश उसे मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर कर देगा। फिर, वह परावलम्बी नहीं, स्वावलम्बी बनेगा। दूसरों पर भरोसा करने के बजाय स्वयँ पर भरोसा करेगा। अपने पुरुषार्थ को पहचानेगा—तो, आत्म-दर्शन कर सकेगा। वीर बनकर जीवन की उलझनों के साथ जूझ पड़ेगा और विश्व-दर्शन कर परमानन्द में मग्न हो-जायेगा। और यही मानव-जीवन का चरम उत्कर्ष है, जिसे वह प्राप्त कर लेता है। जिसे वह पा-लेता है। और जिसके प्राप्त कर लेने पर फिर उसे और कुछ पा-लेना शेष नहीं रह जाता। बाक़ी नहीं बचता।

चाहे ईश्वर हो, इन्द्र हो या नियति हो, हमें इस पचड़े में

पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है; मगर इसके अन्तर्गत जो बात समझ लेने की है, वह है कि वह हमारे लिए करता क्या है? और सीधी भाषा में इस प्रश्न का उत्तर केवल यही है कि वह हमारे कर्मों के अनुसार ही हमको फल प्रदान करता है। तो, मुख्य वस्तु तो हमारे कर्म हैं, जिनकी तरफ हमें ध्यान देना चाहिए। अगर हम कर्म अच्छे करेंगे—तो, उनका फल भी हमें अच्छा ही मिलेगा—और अगर बुरे कर्म करेंगे तो बुरा फल प्राप्त होगा—क्योंकि देने वाला तो वही देगा, जिसकी तुम कामना कर रहे हो, जिसके लिए तुम प्रयत्न कर रहे हो। तो, फल की ओर और देने वाले की ओर देखने से क्या लाभ? तो, लाभ तो इसी में है कि तुम अपने कर्मों की ओर देखो। अच्छा फल प्राप्त करने के लिए अच्छे कर्म करो। दृढ़ आस्था के साथ, निष्काम भाव से जीवनोपयोगी और मानवोपयोगी कर्मों को करो और अबाधगति से निरन्तर जीवन की ऊँचाई पर चढ़ते चले जाओ—संसार को प्रकाशित करते हुए! इसी रूप में तुम्हारा मनुष्य-जन्म सार्थक हो-सकता है—अन्यथा नहीं। जीवन का रूप निखर सकता है—अन्यथा नहीं।

तो, जब कर्म करना भी है और हमी को करना है—तो, किसी के सम्मुख याचना करने से क्या लाभ? शून्य में कर फैलाने से क्या लाभ? तो, जो मनुष्य अथवा जातियाँ स्वयं पुरुषार्थ नहीं करतीं, जीवन की समस्याओं को स्वयं हल नहीं करतीं—उनकी इन्द्र या और कोई भी सहायता नहीं करता।

यही कारण है जो वे जातियाँ कुछ ही समय के भीतर इस संसार से लुप्त-प्राय: हो जाती हैं। किसी की सहायता के आसरे में बैठी रहती हैं—तो, निठल्ली बन कर जीवन गुज़ार देती हैं और उनकी आने वाली सन्तान इतनी निकम्मी और कमज़ोर होती है कि वह जब मृत्यु को प्राप्त होती है तो अपने पीछे अपने चिह्न भी नहीं छोड़ जाती। चिह्न भी नहीं छोड़ जाती और इस तरह वह समूची जाति नष्ट हो लेती है। ऐसा ही इन जातियों का जीवन-इतिहास होता है। जो पढ़े भी तो घृणा से उस पर थूक दे। बारबार उस पर मुँह सकोड़े और यही हर बार कहे—छिः आत्म-गौरव से इतने शून्य, इतने कायर—ये मानव ! ठीक हुआ जो मिट गये ये संसार से ! जीवित रहते—तो, भू-भार बन कर जीवित रहते ! बोझ बन कर जीवित रहते !

मैं अक्सर सुना करता हूँ—बहुत-से भाइयों के मनों मे किसी देवता, दानव या भूत-प्रेत का डर बराबर बना रहता है और वह अपना पुरुषार्थ उसी को प्रसन्न करने में प्रतिपल ख़र्च करते रहते है। तरह-तरह से वे उसकी मनौती मनाते रहते हैं और समय आने पर या पूर्व जन्म के किसी शुभ-कर्म के उदय होने पर उनको मनोवाँछित फल प्राप्त हो जाता है तो भ्रमवश यही समझते हैं कि यह उसी देवता, दानव, भूत अथवा प्रेत की कृपा है। उसने प्रसन्न होकर हमारी मनोकामना को पूरा कर दिया है। तो, इसके उत्तर में मैं आपसे ठीक वही बात कहना पसन्द करूँगा, जो आज से हज़ारों वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण ने नन्द

महर से कही थी । तो, जब आपके जीवन में ऐसा कोई अवसर आया करे, उस समय महापुरुष श्रीकृष्ण की उस वाणी का आप स्मरण कर लिया करें। और आप विश्वास कीजिये कि तब आप अमृतमयी इस वाणी के उज्ज्वल प्रकाश में सब कुछ स्पष्ट और भलीभाँति देख सकेंगे। इस तरह वास्तविकता के दर्शन कर सकेंगे तो भ्रमवश जो आप भटक गये हैं, फिर आप अपनी राह पर आ-जावेंगे। भटकना बन्द कर देंगे तो सत्-पथ पर आगे बढ़ चलेंगे। और सत्-पथ ही मनुष्य-मात्र के लिए एक-मात्र रास्ता है, जिस पर चल कर वह इस ससार में तो चमचम करते अमिट चिह्न छोड़ता ही है, मोक्ष-फल भी प्राप्त कर लेता है।

जब आप के अन्दर ही अनन्त-अनन्त शक्तियाँ विद्यमान् हैं—तो, आप उन्हें भूलने की चेष्टा क्यों करते हैं ? फिर, उन शक्तियों को भूलकर क्यों इतने कायर बनते हैं, जो जीवन की उलझनों को सुलझाने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा करते हैं और अपनी इस कायरता के कारण अपने सभी गुण नष्ट कर लेते हैं। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जब उस समय के लोग इसी प्रकार अपने कर्त्तव्यों को भूल बैठे थे—गुमराह हो रहे थे, तब भगवान् महावीर ने उन सोई हुई आत्माओं को जगाने के लिए ही अपना वह महान् सन्देश दिया था। अपने उस सन्देश में उन्होंने कर्त्तव्य-च्युत मनुष्यों से कर्त्तव्य-निष्ठ बनने की बात ही कही थी। उन्होंने मनुष्यों को उनकी अनन्त-अनन्त शक्तियों की ही याद दिलाई थी। उनसे यही कहा था कि तुम स्वयं को

दीन-हीन मत समझ और इस प्रकार कायर मत बनो। जीवन के संघर्षों से डरो नहीं, काँपो मत; बल्कि उनके साथ जूझ-पड़ने की तैयारी करो। उनसे जूझ पड़ो। जीवन में निराश होकर मत बैठो और न किसी के आसरे की आकांक्षा ही करो; बल्कि जीवन की समस्याओं का सही रूप में समाधान कर डालो। तुम्हे मनुष्य का जन्म इसीलिए मिला है कि आत्मा से परमात्मा बनने का प्रयत्न करो। ईश्वरत्व प्राप्त करो—नकि इस जन्म को यूँही व्यतीत करदो। बर्बाद कर डालो। और अपनी उज्ज्वल आत्मा पर मैल की—विकारों की तह की तह चढ़ा लो।

अगर तुम यह सोचते हो कि हमारा काम तों केवल खाने का है—कमाने का काम किसी और का है तो यह तुम्हारी बहुत बड़ी भूल है। अगर तुम घर में और समाज में इस प्रकार का निष्क्रिय जीवन व्यतीत करोगे तो मोक्ष के मार्ग में भी निष्प्राण पत्थर के टुकड़े के समान ही पड़े रहोगे। तो, जीवन की निष्क्रियता को समाप्त करने के लिए तुम्हे तो यह सोचना है कि तुम्हें जीवन की एक मन्ज़िल स्वयँ तय करनी है। स्वयँ ही उसके लिए क़दम उठाना है और स्वयँ ही उस पथ पर आगे बढ़ना है। तो, जब स्वयँ ही सब कुछ करना है तो निष्क्रिय बनने से तो काम चलेगा नहीं। काम तों क्रियाशील बनने से ही चलेगा। तो, कर्त्तव्य-परायण सदा बने रहो।

अभी-अभी मैं आपसे कृष्ण की भाषा में कह रहा था—आपके कर्म का फल देने वाला कोई भी सही, उस विवाद में

मुझे नहीं पड़ना है। मैं तो आपसे केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि फल का देने वाला आपके कर्म को करने के लिए नहीं आयेगा। और न बिना कर्म किये वह आपको कुछ देगा ही—तो, मुख्य बात तो यही रही कि मनुष्य को पुरुषार्थ करना, प्रयत्न करना अनिवार्य है—और करना भी उसी को है तो फिर अपने दाता से कर्म करने की अपेक्षा रखना तो उसकी निरी मूर्खता है। तो, जब कर्म का करने वाला मनुष्य ही है तो उसे कर्म करना ही चाहिए।

जब दुर्योधन ने यह बिल्कुल निश्चय कर लिया कि पांडवों को सुई की नोक की बराबर भी भूमि नहीं देनी है और पांडवों से युद्ध करने के लिए उसने पूरी तैयारियाँ भी करलीं—तो, बारह वर्ष के वनवास से लौटे हुए पांडवों ने श्रीकृष्ण से पूछा—अब हमें क्या करना है, मधुसूदन ? तो, श्रीकृष्ण ने कहा—लड़ना मेरा काम नहीं है, यह तुम्हारा काम है। और हम देखते हैं कि वह महाभारत के युद्ध में लड़ते नहीं हैं। वह तो अर्जुन के सारथि बनकर, युद्ध-क्षेत्र में, उसके रथ का संचालन-भर करते हैं—तो महापुरुष तो मनुष्यों को प्रकाश देने के लिये ही अवतरित होते हैं। उनके जीवन-रथों का संचालन करते हैं—और इस तरह मानवों का मार्ग-प्रदर्शन कर उन्हें कायर से वीर बना देते हैं। गलत मार्ग पर आगे बढ़ते हुओं को रोक कर सत्-पथ पर डाल देते हैं।

तो, महापुरुष जो बात किसी एक से कहते हैं, वह बात, वह

सन्देश उनका सभी के लिए होता है। और श्रीकृष्ण का वह सन्देश केवल उस एक अर्जुन के लिये ही नहीं था—वह उस समय भी हज़ारों-लाखों अर्जुनों के लिये था और आज भी वह हज़ारों-लाखों अर्जुनों के लिये है।

तो, संसार के किसी भी विराट् पुरुष से, चाहे वह किसी भी संस्कृति की भाषा में बोले, हम अपने जीवन की मन्ज़िल को तय करने के लिये प्रकाश ले-सकते हैं। अपने जीवन को क्रियाशील और उपयोगी बनाने के लिए बहुत-कुछ सीख सकते हैं। मगर अर्जुन की भाँति धनुष हमें ही उठाना होगा। महापुरुष का कार्य तो मार्ग-प्रदर्शन करने का है, रास्ता बताने का है—न कि धनुष चलाने का भी। तो, अर्जुन अगर यह सोचता कि मैं तो कुछ करूँ नहीं—श्रीकृष्ण ही युद्ध करें और सोने के सिंहासन जीतकर मुझे देदें—तो, वास्तव में, पाँडव सुई की नोक की बराबर भी भूमि नहीं पा-सकते थे; उस सोने के सिंहासन की बात तो बहुत दूर की बात थी। तो, जो मनुष्य आज किसी भी महापुरुष के वचनों की ओर ध्यान न देकर केवल उनकी प्रार्थना या उपासना करते हैं—और यह सोचकर करते हैं कि वह महापुरुष उनको यूँ ही, बिना हाथ-पैर हिलाये, बिना प्रयत्न किये अपार धन देदे, पुत्र देदे, राज्य देदे—तो, ज़रा सोचने की बात है—क्या ऐसा होना संभव है? क्या ऐसा कभी हुआ भी है या अब हो-सकता है? जब बिना प्रयत्न किये अर्जुन-सरीखे व्यक्ति को भी कुछ न मिल सका—तो, अर्जुन के सम्मुख ये मनुष्य किस खेत की मूली

हैं ! तो, आज के इन लोगों को यह बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिये कि बिना प्रयत्न किये जब अर्जुन को भी कुछ नहीं मिला तो, इनको भी नहीं मिल सकता । तो, प्रयत्न का धनुष अपने हाथों में लो और अपनी सद्-इच्छाओं के बाण उस पर चढ़ा दो—जीवन की बुराइयों के साथ जूझ पड़ो, तुम्हारी विजय निश्चित् है । और जब विजय निश्चित् है तो तुम्हें फिर मिलेगा भी—सब कुछ ।

वास्तव में, श्रीकृष्ण के चरित्र की गहराइयों में जब हम उतरते है तो प्रत्येक क़दम पर हमें कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है । एक महापुरुष के चरित्र की भाँति श्रीकृष्ण के चरित्र की भी यह विशेषता है कि जीवनोपयोगी ऐसी कोई भी बात बाक़ी नहीं रह पाई है, जो हमें उनके चरित्र-विकास में दृष्टिगोचर न होती हो । दरअसल श्रीकृष्ण का चरित्र कुछ इस रूप में प्रस्फुटित हुआ है कि उसकी गहराइयों में उतरते हुये हम एक अनोखी तृप्ति का अनुभव करने लगते हैं । और तब, उस तेजोमय प्रकाश-पुंज में हमें अपने जीवन की वास्तविकता स्पष्ट रूप से दीख पड़ने लगती है ।

अक्सर देखने में आता है कि कोई भाई अगर कोई छोटा रोजगार लेकर बैठता है तो अपने को बड़े व्यौपारी समझने वाले भाई उस भाई की हँसी उड़ाते है । बड़े दूकानदार होने के कारण चपरासी या पकौड़ी बेचने वाले की कन्या के साथ अपने लड़के की शादी करना पसन्द नहीं करते । उस समय वे पैसे की तोल

पर उस मनुष्य की मनुष्यता को तोलने लगते हैं। उस भाई की इन्सानियत को देखने का प्रयत्न ही नहीं करते। तो, मैं पूछता हूँ- अगर कोई बड़ा रोजगार करने के लिए उसके पास पैसे नहीं हैं तो क्या इसी कारण वह त्यागने योग्य पात्र है? तो, यह तो जीवन की बड़ी भारी विडम्बना है। इस विडम्बना को तो त्यागना ही होगा। अगर जीवन को परमात्ममय बनाना है तो इसे छोड़ देना ही होगा।

श्रीकृष्ण जब गाय चराने वाले ग्वाले का कर्म करते थे तो क्या उस समय वह हीन समझे गये और जब वह द्वारकापुरी में जाकर सोने के सिंहासन पर बैठ गये तो क्या बहुत माननीय बन गये! यह एक प्रश्न है, जिसके उत्तर में आपकी इस भावना का निकम्मापन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। आप जानते हैं कि श्रीकृष्ण को किसी भी रूप में हीन या तुच्छ नहीं समझा गया है। न उस समय ही ऐसा उनको समझा गया है और न आज ही समझा जाता है। वह तो ग्वाले के रूप में भी उतने ही माननीय हैं और अर्जुन के सारथि के रूप में भी तथा द्वारकापुरी के नाथ होने पर भी। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि छोटा काम करने वाला छोटा नहीं होता; बल्कि खोटा काम करने वाला छोटा होता है। पकोड़ी बेचना या चपरास-गीरी करना कोई खोटा काम नहीं है। फिर, आप ऐसे उस भाई के प्रति अपने मन में ऐसी हीन-भावना क्यों लाते हैं। यह भावना तो आपके मन और जीवन को कलुषित करने वाली है। तो, मन में से इसे निकाल

कर फेंक दीजिये।

कहने का तात्पर्य यह है कि यह देखने का प्रयत्न मत करो कि कौन काम छोटा है और कौन काम बड़ा; बल्कि यह देखो कि किसी भी उस छोटे-बड़े कार्य के पीछे विश्व-कल्याण की भावना है या नहीं। जन-कल्याण की भावना है या नहीं। और बस। वास्तव में, हम तो मशीन के उस छोटे-से पुर्जे के समान हैं, जो मशीन के चालू रहने पर बराबर हरकत करता रहता है। और किसी कारण से वह अपनी हरकत को बन्द कर देता है—तो, पूरी मशीन चलते-चलते रुक जाती है। बेचारे इन्जीनियर को तुरन्त भागना पड़ता है। मैं पूछता हूँ—क्या आप जानते हैं कि उस समय वह इंजीनियर उस पुर्जे के समीप पहुँचकर उससे क्या कहता है? वह कहता है—प्यारे मित्र! हरकत करो, जिससे मशीन चलने लगे और जन-कल्याण का कार्य बराबर चालू रहे। तो, समाज रूपी मशीन के सम्बन्ध में भी आप यही बात समझिये। जब सब कोई हरकत कर रहा है तो वह मशीन ठीक ढंग पर चल रही है और अगर किसी ने भी अपनी हरकत रोकी कि पूरी मशीन बन्द हुई। तो, समाज रूपी मशीन को सुचारु रूप में चलाने के लिये आप भी अपनी हरकत को चालू रखिये। मशीन के छोटे-से-छोटे पुर्जे का भी उतना ही महत्त्व समझिये, जितना कि आप किसी बड़े पुर्जे का समझते हैं। वास्तव में, समाज रूपी मशीन भी तभी चालू रह सकती है, अन्यथा नहीं। तो, छोटे-से-छोटा पुर्जा भी महत्त्व की दृष्टि से उतना ही बड़ा है,

जितनी बड़ी कि वह मशीन ! तो, जब महत्त्व की दृष्टि से छोटा पुर्ज़ा भी उतना महत्त्व रखता है, जितना कि एक बड़ा पुर्ज़ा—तो, आकार और प्रकार के चक्कर में पड़कर किसी के भी महत्त्व को कम आँकने की भूल नहीं करनी चाहिये।

ठीक है, सांसारिक दृष्टि से महल बड़े हैं और झोंपड़ियाँ छोटी; मगर महत्त्व या उपयोगिता की दृष्टि से महल और झोंपड़ियों में कुछ भी अन्तर नहीं है। ससार में कुछ लोग हिमालय की ऊँचाइयों पर बैठे काम कर रहे हैं और कुछ उस पर्वत-राज की तलहटियों में—बस, महल और झोंपड़ियों के रहने वालों में यही अन्तर है; लेकिन उपयोगिता की दृष्टि से दोनों ही समान हैं। अगर दोनों में से कोई एक भी अपना काम करना बन्द कर देगा—तो समाज रूपी मशीन तुरन्त बन्द हो जायेगी और मशीन के इंजीनियर को भागना पड़ेगा। प्रेम और मोहब्बत से उसे समझाना पड़ेगा और उस पुर्ज़े को हरकत करने के लिये राज़ी करना पड़ेगा। और जब वह पुर्ज़ा हरकत करने लगेगा तो समूची मशीन फिर चलने लगेगी। तो, आपकी हरकत के पीछे सद्भावना होनी चाहिये, जन-कल्याण की भावना होनी चाहिये। आपके द्वारा सम्पन्न होने वाले जिस किसी कार्य के पीछे सद्भावना नहीं है, वह कार्य खोटा है—फिर, चाहे वह कार्य कितना ही भी बड़ा क्यों न हो—और वह कार्य करने-योग्य नहीं है। यदि आपके कार्य के पीछे ख़ुदगर्ज़ी का दावानल जल रहा है तो अपनी उस आग में आप स्वयँ भी जल जायेंगे। आपके द्वारा लगाई गई उस आग

में दूसरे तो जलकर भस्म होंगे ही; मगर आप स्वयँ भी नहीं वच सकेंगे।

कोई भी कर्म स्वयँ में छोटा या वडा नहीं हुआ करता। और न सद्भावना-मिश्रित किसी भी काम को करने से आदमी छोटा हो जाता है। श्रीकृष्ण अगर ग्वाले का काम करते थे तो वह कुछ छोटे नहीं हो गये थे। किसी के पूछने पर एक बार उन्होंने कहा था—गाएँ मेरे आगे हों, पीछे हो और दाएँ-वाएँ हों। ये परोपकार और करुणा की मूर्त्तियाँ मेरे चारों तरफ़ होती हैं तो मुझे असीम आनन्द की प्राप्ति होती है। और जब उस पूछने वाले ने उनसे पूछा—तुम्हारे माता-पिता कौन हैं? तो, उन्होंने बड़ी मार्मिक वाणी में उस प्रश्न-कर्त्ता से कहा—गाएँ मेरी माता हैं और वैल मेरे पिता! और जब मैं अपने इन माता-पिता से घिर कर, वन की हरियाली के बीच, यमुना के तट पर खेलता हूँ—तो मेरा मन एक पवित्र और अनोखे आनन्द से भर-सा जाता है। और जब मैं अपने इन माता-पिता की सेवा करता हूँ—तो, मेरे मन में सेवा का भाव खिलखिला कर हँस पड़ता है। उसकी पवित्रता से मैं आत्म-विभोर हो जाता हूँ।

मगर आज जब कृष्ण के देश के लोगों को हम गायों का रोज़गार करते हुये देखते हैं—तो, हृदय को एक ठेस-सी लगती है-लेकिन उन रोज़गार करने वालों को कुछ भी महसूस नहीं होता। उन्हें तो अपना रोज़गार प्यारा है—उन्हें इस बात से क्या सम्बन्ध है कि इस प्रकार वे गौ-वंश को कितनी हानि पहुँचा

रहे हैं। देश को कितना कंगाल बना रहे हैं। रोजगार के पीछे गायों को रोज मौत के मुँह में झोंककर देश-वासियों को दूध और घी से एकदम वंचित-सा करते जा-रहे हैं। दूध के अभाव मे बीमार और बच्चों के मुख से निकलने वाली चीत्कारों को भी वे नहीं सुन पाते—या सुन कर भी अनसुनी कर देते हैं। उफ़! कैसा दुर्भाग्य है—आज इस देश का! जहाँ एक समय दूध और घी की नदियाँ बहा करती थीं—वहाँ आज दूध और घी की एक-एक बूँद के लिये लोग तरस रहे हैं। तो, मैं सोचता हूँ कि इससे भी अधिक मतलब-परस्ती और क्या हो-सकती है! एक समय था, जब यहाँ के सम्बन्ध में विदेशी कहा करते थे—भारतवर्ष में जहाँ भी कहीं जाते हैं और पीने के लिये पानी माँगते हैं—तो पानी के स्थान पर दूध पीने के लिये मिलता है। भारतवासी हमसे कहते हैं-आप हमारे अतिथि हैं, आपको पानी क्या देंगे, दूध पीजिये। मगर आज, आज तो दूध माँगने पर पानी मिलता है और यदि दूध भी मिलता है—तो भी पानी ही मिलता है—दूधिया रंग का पानी! मगर आज भारतवर्ष में इनको कोई समझाने वाला भी नहीं है। धर्म-क्षेत्र के आदमी ही इन लोगों को समझा सकते थे; मगर वे स्वयं पथ-भ्रष्ट हो गये हैं। आज के इस क्षेत्र के आदमियों ने भी यह समझ लिया है कि हम तो भगवान् के प्यारे हैं और संसार के बाक़ी ये लोग पामर हैं, नीच प्राणी हैं—ये तो नरक के कीड़े हैं। इनसे हमारा वास्ता भी क्या? मगर इन पामर प्राणियों के घरों की दूध की मटकियों को समूची गटक जाने में

में दूसरे तो जलकर भस्म होंगे ही; मगर आप स्वयँ भी नहीं बच सकेंगे।

कोई भी कर्म स्वयँ मे छोटा या बड़ा नहीं हुआ करता। और न सद्भावना-मिश्रित किसी भी काम को करने से आदमी छोटा हो जाता है। श्रीकृष्ण अगर ग्वाले का काम करते थे तो वह कुछ छोटे नहीं हो गये थे। किसी के पूछने पर एक बार उन्होंने कहा था—गाएँ मेरे आगे हों, पीछे हों और दाएँ-बाएँ हों। ये परोपकार और करुणा की मूर्त्तियाँ मेरे चारों तरफ़ होती हैं तो मुझे असीम आनन्द की प्राप्ति होती है। और जब उस पूछने वाले ने उनसे पूछा—तुम्हारे माता-पिता कौन है? तो, उन्होंने बड़ी मार्मिक वाणी में उस प्रश्न-कर्त्ता से कहा—गाएँ मेरी माता हैं और बैल मेरे पिता! और जब मैं अपने इन माता-पिता से घिर कर, वन की हरियाली के बीच, यमुना के तट पर खेलता हूँ—तो मेरा मन एक पवित्र और अनोखे आनन्द से भर-सा जाता है। और जब मैं अपने इन माता-पिता की सेवा करता हूँ—तो, मेरे मन में सेवा का भाव खिलखिला कर हँस पड़ता है। उसकी पवित्रता से मैं आत्म-विभोर हो जाता हूँ।

मगर आज जब कृष्ण के देश के लोगों को हम गायों का रोजगार करते हुये देखते हैं—तो, हृदय को एक ठेस-सी लगती है—लेकिन उन रोजगार करने वालों को कुछ भी महसूस नहीं होता। उन्हें तो अपना रोजगार प्यारा है—उन्हें इस बात से क्या सम्बन्ध है कि इस प्रकार वे गौ-वंश को कितनी हानि पहुँचा

रहे हैं। देश को कितना कंगाल बना रहे हैं। रोजगार के पीछे गायों को रोज मौत के मुँह में झोंककर देश-वासियों को दूध और घी से एकदम वंचित-सा करते जा-रहे हैं। दूध के अभाव में बीमार और बच्चों के मुख से निकलने वाली चीत्कारों को भी वे नहीं सुन पाते—या सुन कर भी अनसुनी कर देते हैं। उफ़! कैसा दुर्भाग्य है—आज इस देश का! जहाँ एक समय दूध और घी की नदियाँ बहा करती थीं—वहाँ आज दूध और घी की एक-एक बूँद के लिये लोग तरस रहे हैं। तो, मैं सोचता हूँ कि इससे भी अधिक मतलब-परस्ती और क्या हो-सकती है! एक समय था, जब यहाँ के सम्बन्ध में विदेशी कहा करते थे—भारतवर्ष में जहाँ भी कहीं जाते हैं और पीने के लिये पानी माँगते हैं—तो पानी के स्थान पर दूध पीने के लिये मिलता है। भारतवासी हमसे कहते हैं–आप हमारे अतिथि हैं, आपको पानी क्या देंगे, दूध पीजिये। मगर आज, आज तो दूध माँगने पर पानी मिलता है और यदि दूध भी मिलता है—तो भी पानी ही मिलता है—दूधिया रंग का पानी! मगर आज भारतवर्ष में इनको कोई समझाने वाला भी नहीं है। धर्म-क्षेत्र के आदमी ही इन लोगों को समझा सकते थे; मगर वे स्वयँ पथ-भ्रष्ट हो गये हैं। आज के इस क्षेत्र के आदमियों ने भी यह समझ लिया है कि हम तो भगवान् के प्यारे हैं और संसार के बाक़ी ये लोग पामर हैं, नीच प्राणी हैं—ये तो नरक के कीड़े हैं। इनसे हमारा वास्ता भी क्या? मगर इन पामर प्राणियों के घरों की दूध की मटकियों को समूची गटक जाने में

उन्हें कोई दिक्कत महसूस नहीं होती। फिर तो वे इस बात का भी ख्याल नहीं करते कि इन पामर प्राणियों के बाल-बच्चे भी हैं, जिनको यह दूध मिलना अति आवश्यक है, अन्यथा उन बेचारों की हड्डियाँ भी मजबूत नहीं होंगी। इनके घरों में बीमार प्राणी भी पड़े-पड़े कराह रहे हैं, जिनके लिये ये दूध अमृत का कार्य करेगा और वे जी उठेंगे। मगर उन्हें इन बातों से कोई सरोकार नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं।

इसीलिये मैं कहना चाहता हूँ कि श्रीकृष्ण के जीवन को भली-भाँति समझने के लिये उनकी मर्यादाओं को जान लेना नितान्त आवश्यक है। उनके जीवन से जुड़ी हुई एक कथा है—कालिया नाग के मर्दन की! अपने विकराल और विशाल शरीर के बंधन में श्रीकृष्ण को बाँध कर वह उनसे बोला—अभी मैं तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े किये देता हूँ। मगर उसकी इस बात को सुनकर श्रीकृष्ण ने अपने शरीर का फैलाव किया और तब उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने वाले उस नाग के शरीर के ही टुकड़े होने लगे—तो, वह उनसे क्षमा-याचना करने लगा।

हम इसे एक रूपक-कथा मान सकते हैं; मगर सिद्धान्त की दृष्टि से अगर इसे देखें तो जानने के लिये हमें इस कथा में बहुत-कुछ मिल सकता है। इस संसार में प्रत्येक मनुष्य को आपत्तियों के कालिया नाग जकड़ा करते हैं; मगर उनमें ऐसे कितने वीर और बहादुर हैं, जो अपने पूर्व-पुरुष श्रीकृष्ण की भाँति आपत्ति-रूपी इन कालिया नागों को अपने विराट् रूप के द्वारा नत-

मस्तक होने के लिये बाधित कर देते हैं। वास्तव में, जिस जाति और देश में ऐसे माई के लाल उत्पन्न होते हैं, वे जातियाँ और वे देश धन्य हैं। वे जातियाँ और वे देश सर्वदा उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हैं, सर्वदा आगे बढ़ा करते हैं। मगर जिन जातियों और देशों में ऐसे नर-पुंगव पैदा नहीं होते, वे जातियाँ और वे देश तबाह और बर्बाद हो जाया करते हैं। मिट जाया करते हैं।

तो, अपने, अपनी जाति के और अपने देश के गौरव को सुरक्षित रखने के लिये जिस कार्य-क्षेत्र में भी उतरो उसमें विराट भावनाओं को जगाओ, उसमें सिकुड़न नहीं, फैलाव पैदा करो! उसको संकुचित नहीं, विस्तृत बनाओ। और जब स्वयँ का विस्तार कर लोगे तो आपत्तियों की पकड़ ढीली पड़ जायेगी, मुसीबतों की जकड़ कमजोर पड़ जायेगी। वास्तव में, श्रीकृष्ण जिस क्षेत्र में भी उतरे, वह विराट रूप लेकर उतरे। तो, प्रत्येक क्षेत्र को उन्होंने विस्तृत किया, उन्नतिशील बनाया। और जीवन के पथ पर स्वयँ भी आगे बढ़े और दूसरों को भी बढ़ाया। अर्जुन जब हीनता और दीनता के भावों में डूब-उतराने लगा, मोह-ग्रस्त हो गया, अकर्मण्यता को अपने मन में बसाने लगा—तो, श्रीकृष्ण ने उससे कहा—एक महान् शक्ति संसार के इस खेल को खेल रही है और तू तो अर्जुन उसमें निमित्त-मात्र है। फिर, वह अपने विराट रूप को लेकर उसके सम्मुख खड़े हो गये। और उनके उस विराट-रूप में अर्जुन जो-कुछ भी देखता है, उससे उसका समाधान हो जाता

है। उसके मन की हीनता, दीनता और मोह के भाव छिन्न भिन्न हो जाते हैं। और वह सोचने लगता है, संसार-चक्र तो चल ही रहा है, वह तो रुकेगा नहीं—इसी प्रकार कुछ बनते रहेंगे और कुछ बिगड़ते रहेंगे; मगर मनुष्य की शक्ति का मूल्य यही है कि वह संसार-चक्र के इस कार्य मे निमित्त-मात्र बने। उसके कार्य की पूर्त्ति में योग दे। अपने जीवन को भी गतिशील रक्खे।

इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि जीवन मे सिकुड़ने की आदत का त्याग कर दो। अर्जुन की भाँति विराट् रूप के दर्शन करो। मच्छरों की, भाँति हूँ-हूँ करने से काम नहीं चलेगा। मक्खियों की भाँति भिनभिनाते रहने से जीवन की समस्या का हल न होगा। आदमियों का काम तो जीवन के मैदान मे जूझने का है—मक्खियों और मच्छरों की तरह भिनभिनाने का नहीं है। घर के कोने में दुबक कर बैठ जाने का नहीं है। जो जीवन के क्षेत्र में से मनुष्य, परिवार, समाज या राष्ट्र भाग जाते हैं, वे वास्तव में, मक्खियों और मच्छरों की भाँति डरपोक और कायर हैं। उन मनुष्यों का जीवन मनुष्यों का-सा नहीं है। वे कीड़े-मकोड़ों का-सा जीवन व्यतीत करते हैं। और मानव की महत्ता की उपेक्षा कर कायर बन कर जीवित रहते हैं।

मगर श्रीकृष्ण का समूचा जीवन कार्य-क्षेत्र में जूझते हुए ही व्यतीत होता है। जैनाचार्य उनके जीवन के एक प्रसंग का वर्णन करते हुए कहते हैं—जब समूची व्रजभूमि साम्राज्यवाद के चक्कर में बुरी तरह से जकड़ गई, चारों ओर से घिर गई—

और यादव जाति का विनाश सन्निकट प्रतीत होने लगा—तो, एक दिन कृष्ण ने सभी बड़े-बूढ़ों को एकत्रित कर कहा—हमारा विनाश हमारे सम्मुख मुँह बाये खड़ा है—और हमारी शक्ति इतनी कम है कि हम अपने दुश्मन का मुक़ाबिला भली प्रकार से नहीं कर सकते। मुक़ाबिला करने में मुमकिन है कि हम एक-एक कर सब ही समाप्त हो जाँय—तो, उचित यही जान पड़ता है कि हम इस भूमि को इस समय त्याग दें और कहीं किसी सुरक्षित स्थान में पहुँच कर अपनी खोई हुई शक्ति का संचय करें और तब अपने शक्तिशाली दुश्मन से मुक़ाबिला करें।

तो, कृष्ण की इस वाणी को सुनकर वे हज़ारों बूढ़े कहने लगे—हमारे पूर्वज और हम भी इसी भूमि में पैदा हुए और यहीं खेल-खेल कर इतने बड़े भी! तो, अब इस भूमि को छोड़ कर हम कहाँ जाँय। हमारे पूर्वज भी यहीं पर समाप्त हो गये और हमारी भी इच्छा यही है कि हम भी यहीं पर अपने प्राणों को त्यागें। जब हमारी अनेकों पीढ़ियाँ यहीं पर उत्पन्न हुईं और इसी भूमि की रज में मिल गईं—तो, अपने पूर्वजों की पवित्र रज का त्याग कर हम और जाँय भी कहाँ, कृष्ण! हम तो अपार दुख सह कर भी यहीं रहने के इच्छुक हैं।

तो, कृष्ण ने कहा—यह सारा विश्व तुम्हारा है। पृथ्वी के एक टुकड़े के मोह में फँस कर अपने और अपनी जाति के जीवन और गौरव को नष्ट करने की कोशिश मत करो। जब समूचा विश्व एक इकाई के रूप में है तो उसके खंड-खंड करने

की कोशिश मत करो। तो, किसी स्थान के मोह में फँसने की कोशिश मत करो। जहाँ तुम उखड़े-पैरों के बल रह रहे हो, वह स्थान तुम्हारे रहने योग्य नहीं है। इस विश्व में जहाँ तुम पैर जमाकर रह सको, वही स्थान तुम्हारे रहने के योग्य है। वहीं तुम्हे रहना भी चाहिए। तो, तोड़ दो इस मोह के बन्धन को।

मगर श्रीकृष्ण के इन वचनों से भी मोह-ग्रस्त उन बूढ़ों का समाधान न हो सका—तो, श्रीकृष्ण कहने लगे—

"यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्, स्वदेश रागेण हियाति खेदम्।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः, क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति॥

जिसकी गति सब जगह है, जो सब जगह जाकर फल-फूल सकता है, जो संसार के प्रत्येक कोने में जाकर वहाँ की परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना सकता है, उसके लिए यह बात कहना कि विश्व का यह टुकड़ा मेरा है, मेरे पूर्वज हजारों वर्षों से यहीं पर रहे हैं, मैं भी यहीं पर पैदा हुआ, यहीं बड़ा भी—तो, यहीं पर प्राणों का त्याग भी करना चाहता हूँ। चाहे यहाँ पर रोते-रोते ही जीवन व्यतीत करना पड़े; मगर मैं यहीं पर रहूँगा, यह बात अशोभनीय है। ये शब्द उसकी धीरता के परिचायक नहीं हैं। और न उसके इन शब्दों से आत्म-गौरव की ध्वनि ही प्रस्फुटित होती है। जीवित जीवन का उल्लास भी दिखाई नहीं देता। आत्मा का प्रखर तेज भी दृष्टिगोचर नहीं होता। तो, मोह के बन्धन को तोड़ने के लिए यह परम आवश्यक है कि आदमी अपने विचारों की दुनियाँ को ही बदल

डाले, आचार को भी शुद्ध करे और विश्व के कोने-कोने में जाय। कहीं भी रहे, मगर दृढ़ क़दमों का बल उसे प्राप्त हो। जीवन का उल्लास उसका अपना हो। फिर, वह अपने उस उल्लास को समूचे संसार में व्याप्त करदे—और इस प्रकार उसे करोड़ों गुना बनादे।

वास्तव में, कितनी भव्य वाणी है, श्रीकृष्ण की! मगर कौन सोचता है, इस बात को! और तंग-दिलियों में ही जीवन को गुज़ार देते हैं। विराट रूप में सोचने का कुछ अभ्यास ही नहीं करते। जीवन को ऊपर उठाने की कोशिश ही नहीं करते। किसी के बड़े-बूढ़े ने एक कुआँ खुदवाया और दुर्भाग्य से उस कुए का पानी खारी निकल आया; मगर उस कुए का पानी घर के सब आदमी इसलिए पीते हैं—क्योंकि वह कुआँ उनके बड़े-बूढ़े ने खुदवाया था। इस भावना के वशीभूत हो, उस कुए के खारी पानी को पीते हैं और बीमार पड़ते हैं—रात-दिन हाय-हाय करते हैं, मगर गाँव के बाहर वाले कुए के मीठे पानी को नहीं पीते। यदि कोई उनसे कहता है कि गाँव के बाहर वाले कुए से मीठा पानी लाकर क्यों नहीं पीते हो—तो, उसके इस प्रश्न के उत्तर में वे उससे कहते हैं—वहाँ से पानी लाने की तो कोई बात नहीं है, मगर यह कुआँ हमारे पुर्खों के द्वारा खुदवाया गया है। यदि हम ही इस कुए का पानी नहीं पीयगे—तो, और कोई भी क्यों पीयेगा। यही सोचकर, दुख सहते हुये भी, हम इस कुए का ही पानी पीते हैं।

तो, मैं समझता हूँ—इस तरह हजारों-लाखों आदमी सर्वदा से ही खारी पानी को पीते हुये चले आ रहे हैं। हो सकता है कि किसी युग में इस खारी पानी का भी मूल्य रहा हो। आजकल प्रचलित अनेक ग़लत और गंदे रीति-रिवाजों का भी समाज में कभी कोई मूल्य रहा हो; मगर अब जबकि वे सभी रीति-रिवाज समाज के लिए अहितकर साबित हो रहे हैं—तो, उनको छोड़ क्यों नहीं देते। आज किसी भी समाज, राष्ट्र, परिवार या धर्म में जो भी परंपरा खारी कुये का जल बन गई है और जिसके पान करने पर बीमार पड़ जाते हैं—तो, उसको छोड़ क्यों नहीं देते। उसका त्याग क्यों नहीं कर देते। जीवित रहने वाली क़ौमों में क्रान्तिकारी परिवर्तन सर्वदा होते रहा करते हैं। तो, गौरव-सम्पन्न जातियाँ बड़े-बूढ़ों के नाम पर अनुपयोगी हो गई वस्तुओं के साथ चिपटी नहीं बैठी रहा करतीं। जीवित और जागृत तथा गौरवशालिनी बनी रहने के लिए समय के बदलते ही वे स्वयँ भी बदल जाया करती हैं।

और जो जातियाँ ऐसा नहीं करतीं, जो धर्म और राष्ट्र ऐसा नहीं करते—इसके विपरीत खारा पानी पीने का ही अधिकार लेकर बैठ जाते हैं, उनके सम्बन्ध में कृष्ण कहते हैं—ये भाषा तो हमारी बोल रहे हैं, मगर इनसे अधिक हीन और कायर दुनियाँ में दूसरा कोई भी नहीं है। क्या जरूरी है कि हम यहीं पर बने रहें—क्यों न हम विशाल मैदानों में काम करें। क्यों न हम प्रगति के पथ पर आगे बढ़ें!

और श्रीकृष्ण की इस ललकार को सुनकर वह विशाल यादव-जाति व्रजभूमि का त्याग कर एक दिन निकल पड़ती है। और मार्ग की सभी बाधाओं से मुक़ाबला करती हुई अपनी लम्बी यात्रा पर वह निरन्तर बढ़ती ही चली जाती है। गुजरात में पहुँचकर भी वह रुकती नहीं, अपने ऊपर होने वाले आक्रमणों का वह वीरता के साथ, साहस के साथ मुक़ाबला करती हुई बराबर आगे ही बढ़ती चली जाती है और एक दिन सौराष्ट्र से भी आगे समुद्र-तट पर पहुँच जाती है। वास्तव में, उस जाति ने, उस जाति के युवकों ने सोच लिया था कि हम तो मरेंगे ही, मगर हम अपनी यात्रा को भी सफल बना लेंगे। और हमारी इस यात्रा से आगे आने वाली सन्तान लाभान्वित होगी। तो, जो कौमें दूसरों के लिये उचित समय पर अपने प्राणों की आहुतियाँ देना जानती हैं, वे संसार में अमर हो जाती हैं। और ऐसी जातियों के लिये एक दिन श्रीकृष्ण ने कहा था—मानव-जीवन की सफलता इसी में है कि वह अपने धन से, बुद्धि से और बाहुबल से जन-कल्याण के लिए कार्य करता रहे। विश्व के कल्याण के लिये जो जातियाँ अपने धन का, अपने वैभव का बलिदान करना जानती हैं, अपनी बुद्धि और वाणी का बलिदान करना जानती हैं—उन जातियों को संसार की कोई भी शक्ति कुचल नहीं सकती। यदि कुचल सकती होती तो यादव जाति को कभी का कुचल दिया होता। मगर वह विराट् भावनाओं वाली यादव जाति तो मार्ग की सभी आपत्तियों से लोहा बजाती हुई

समुद्र के तट पर पहुँच ही जाती है। वहाँ एक तरफ़ समुद्र है और दूसरी ओर विशाल मैदान ! और उस जाति के वीरों ने सोचा—हमारे लिए यही उपयुक्त स्थान है और हमें अपना झंडा यहीं पर गाड़ देना चाहिये। इस स्थान से हम समुद्र पर और अन्य बलशालिनी ताक़तों पर भी राज्य कर सकते हैं। और यह सोच कर उन्होंने उसी भूमि पर अपना झंडा गाड़ दिया।

और तब इस यादव जाति ने समुद्र की उस विशाल जल-राशि पर अधिकार किया। उस विशाल मैदान पर भी अपना अधिकार किया और गणतन्त्र की तरह की राज्य-व्यवस्था चालू की। उनके इस गणतन्त्र राज्य के उल्लेख हमें महाभारत तथा जैन-साहित्य में प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। उस समय गणतन्त्र एक प्रकार का प्रजातन्त्र राज्य था—जिसमें सभी को समान रूप से सुखी और समृद्धशाली होने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

यद्यपि इस जाति को कंस, जरासंध और शिशुपाल जैसी बलशालिनी ताक़तों से मुक़ाबिला करना पड़ा ; मगर इन सभी ताक़तों से मुक़ाबिला करके और उन्हें परास्त करके श्रीकृष्ण ने जो राज्य क़ायम किया—वह प्रजा के कल्याण और भारतवर्ष के कल्याण के लिए ही किया। वास्तव में, लोक-कल्याण के लिए ही श्रीकृष्ण का समूचा जीवन संघर्षों से जूझते हुए ही बीता। और जब श्रीकृष्ण के प्रयत्न से इन दुष्ट और घमण्डी राजाओं से प्रजा को छुटकारा मिला तो उस समय के विराट् जन-समुदाय

ने कृष्ण के लिए क्या कहा—उसने कहा—

"देवो वा दानवो वा त्वं, यक्षोगन्धर्व एव वा।
किमस्माकं विचारेण बान्धवोऽसि नमोऽस्तु ते॥

हे कृष्ण! तुझे कुछ लोग देवता कहते हैं, कुछ यक्ष और गंधर्व! और इसी रूप में वे तेरी पूजा करते हैं। मगर हम इस प्रजातन्त्र के झंडे के नीचे तुझे अपना बन्धु मानते हैं। अपना भाई मानते हैं, माननीय बन्धु! और हम तुझे नमस्कार करते हैं। और वास्तव में अपार शक्ति-सम्पन्न यह आत्मा, सम्राट श्रीकृष्ण सब का बन्धु बन कर रहा। कितना पवित्र और आनन्दप्रद नाता है, यह! जिस महाशक्ति की सहायता से भारतवासियों ने साम्राज्यवाद की दुर्जन शक्तियों से मुक्ति पाई, वही महाशक्ति प्रजाजनों के साथ हिल-मिल कर रही। बड़े भाई और पिता के समान वह अपनी प्रजा को अपना स्नेह बराबर लुटाता रहा। जीवन-पर्यन्त अपने स्नेह की उन पर वर्षा करता रहा।

तो, यह है उस समय के भारत की संस्कृति! और मैं आपसे पूछता हूँ कि आप कृष्ण को किस रूप में आज याद करते हैं? आज कल के चित्रकार किस रूप में उस कृष्ण के चित्र उतार रहे हैं, जो सबका बन्धु है। वास्तव में, उन चित्रकारों के चित्रों को देखकर अचम्भा होता है। जान पड़ता है, जैसे उन चित्रकारों ने बन्धु श्रीकृष्ण को जाना ही नहीं है, समझा ही नहीं है। दो-चार गोपियाँ उनकी बगल में खड़ी कर दीं

और समझ लिया कि कृष्ण की वास्तविक झाँकी हमें मिल गई। आज के कवि भी कृष्ण को गोपियों के कृष्ण के रूप में चित्रित करना ही श्रेयस्कर समझते हैं—तो, मैं नहीं समझ पाता कि गोपियों के साथ रास-रंग मे मस्त रहने वाला कृष्ण इतना महान् किस प्रकार वन सका। जिसके जीवन में सर्वदा ही विजलियाँ कड़कती रही हों, जो अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में आपत्तियों से ही जूझा किया हो, जिसने महान् सम्राटों के, अपने बाहुवल और राजनीतिक चालों से दांत खट्टे कर दिये हों, भला गोपियों के साथ नाचने का उसे समय ही कब मिला होगा। तो, चित्रकारों और कवियों से मेरी प्रार्थना है कि अपनी मौज की तरंग में वह कर वे श्रीकृष्ण जैसी हस्ती के साथ न्याय वर्तने का कष्ट करें। उनके मन की यह मौज उच्छृंखल है, उसे वे रोकें और श्रीकृष्ण के वास्तविक चरित्र को चित्रित करने की ओर उसे मोड़ दें।

वास्तव में, आज देशवासियों को महाभारत के कृष्ण की आवश्यकता है। सारथि कृष्ण की जरूरत है। इस रूप में वह महान् है। महान् से भी महान्! क्योंकि वह सम्राट होकर भी भिखारी अर्जुन का रथ हाँकने में लज्जा का अनुभव नहीं करता। जो तेज उसकी आँखों में सुदर्शन चक्र उठाते हुये दीख पड़ता है वही तेज सारथि के रूप में भी प्रस्फुटित होता हुआ दिखलाई देता है। और यही श्रीकृष्ण की सबसे बड़ी महत्ता है। तो, श्रीकृष्ण की इस महत्ता के दर्शन हम सब में भी होने चाहिएँ। वही तेज

हमारी आँखों में भी दीप्तिमान् होना चाहिए। हमारी तूलिका के अकंन में भी वही गौरव छलकता हुआ दृष्टिगोचर होना चाहिये। विचार उच्च होने चाहिये और आचार उन्हीं विचारों के अनुरूप होना चाहिये।

अगर हम यह सब कर लेते हैं तो फिर हमारे जीवन की समस्याएँ अनायास ही हल होती हुई दिखलाई देने लगेंगी। सभी प्रकार की संकीर्णता हमसे बहुत दूर जाकर खड़ी हो जायेगी और हमारे सोचने और व्यवहार करने का ढँग अपने वास्तविक रूप में आजायेगा। फिर हम श्रीकृष्ण की भांति स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन में आगे बढ़ सकेंगे। अगर श्रीकृष्ण की भाँति हमारे मन में भी सम-भाव की भावना अपना आधिपत्य जमा कर बैठ जायेगी—तो, भारतवर्ष में दुःख और दारिद्र्य के दर्शन भी न हो-सकेंगे। तब सभी सुखी और समृद्धिशाली होंगे।

गरीब ब्राह्मण सुदामा का नाम आप सभी ने सुना है। एक दिन जब यही सुदामा अपनी दीन-हीन अवस्था में द्वारिकापुरी की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं के नीचे होकर आगे बढ़ता हुआ राज-महल के सिंहद्वार पर पहुँचा तो उस महल की भव्यता को देखकर ठगा-सा रह गया—उसके मुख से एक शब्द भी न निकला—तो, उस राज-महल के द्वारपाल ने उससे पूछा—क्या बात है? और उत्तर में उसने कहा—कृष्ण हमारे मित्र हैं! और उसकी इस बात को सुनकर द्वारपाल हँसा। मगर सुदामा ने अपना समूचा साहस बटोर कर उससे फिर कहा—भाई!

कृष्ण मेरे मित्र हैं। अगर मेरे कथन की सत्यता को जानना चाहते हो तो उनसे जाकर पूछ लो। उन्हें मेरा नाम सुदामा बतला देना। अगर यह उपकार कर सको—तो कर लो।

और सुदामा की इस बात को सुनकर द्वारपाल अन्दर गया। श्रीकृष्ण के सम्मुख पहुँच कर उसने निवेदन किया—महाराज! एक बहुत ही गरीब, जिनके शरीर पर साबुत वस्त्र भी नहीं है और जो अपना नाम सुदामा बतलाता .... ।

और दया के सागर श्रीकृष्ण सुदामा का नाम सुनते ही तुरन्त उठ खड़े हुए। उन्होंने द्वारपाल की पूरी बात को सुना भी नहीं और द्वार की ओर चले। द्वार पर पहुँचते ही उन्होंने सुदामा को अपने अङ्क में भर लिया। वह दरिद्र अपने मित्र सुदामा से इसी भाँति मिले—जैसे वह किसी सम्राट से मिल रहे हों। उनके मन में अपने पुराने मित्र सुदामा से मिलते समय प्रेम का सागर छलकने लगता है। नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा फूट निकलती है। वह गद्‌गद् हो जाते हैं।

और श्रीकृष्ण और सुदामा के मिलने के इस दृश्य को जब हम अपने चिन्तन में उतारते हैं तो मन में पवित्र आनन्द की एक लहर-सी दौड़ जाती है। वास्तव में, श्रीकृष्ण के चरित्र की यह भी एक विशेषता है कि वे किसी भी रूप में रह कर अपने पुराने संगी-साथियों को कभी भूलते नहीं हैं। और न कभी भूलने का प्रयत्न ही करते हैं। बल्कि उनसे कभी मिलते हैं तो गद्‌गद् हो जाते हैं। तो, उनकी महत्ता जीवन का परम लक्ष्य

बनकर हमारे नेत्रों के सम्मुख खड़ी हो जाती है। मगर हम संकीर्ण विचारों में फँसे रहने के कारण उसे अपने जीवन में उतार नहीं पाते। यही कारण है जो सिंहासनों या ऊँची गद्दियों पर पहुँच कर, विद्या-बल को प्राप्त करके अथवा शासन के कतिपय अधिकारों को प्राप्त कर हम अपने पुराने संगी-साथियों को भूल जाते हैं या भूल जाने की चेष्टा करते हैं। तो, हमारे मन का इससे बड़ा पाप और कौनसा हो-सकता है। और यही कारण है, जो आज भारतवर्ष में लाखों-करोड़ो सुदामा नज़र आते हैं।

तो, आज देश के लाखों-करोड़ों लोगों की ग़रीबी को दूर करने के लिए, उस महान् विभूति के चरणों में बैठ कर क्यों न सोचें कि इस संसार में जितने भी प्राणी हैं, उनके लिए हम प्रेम, आनन्द और कल्याण की वर्षा करने के लिए ही यहाँ आये हैं। और अपने इन विचारों के समान अगर हम अपने आचरण को बना लेते है तो यह सत्य है कि हम श्रीकृष्ण की भक्ति के मर्म को भलीभाँति समझते हैं। जिस श्रीकृष्ण की आज जन्मतिथि है, उस श्रीकृष्ण के हम सच्चे पुजारी हैं। अग़र हम समार के कल्याण के लिए, महान् आत्मा श्रीकृष्ण के बताये मार्ग पर आगे बढ़ते हैं तो अपने जीवन का भी कल्याण करते हैं।

जोधपुर
३१-८-५२

१५ अगस्त

आज भारत की आज़ादी की सातवीं वर्ष-गाँठ है। आज से छः वर्ष पूर्व, पन्द्रह अगस्त १९४७ को, भारत एक हज़ार वर्ष की गुलामी भोगकर स्वतन्त्र हुआ—मानो, उसके इतिहास ने दूसरी करवट ली और उस दिन का स्वर्णिम प्रभात खिलखिला कर हँस पड़ा। परतन्त्र, मगर फिर भी महान् देश के महान् नागरिक सोते से जगे तो पन्द्रह अगस्त का खिलखिल करता हुआ प्रभात अपने चाँदी के थाल में रोली लिए हुए उनके सम्मुख खड़ा था—तो, प्रत्येक भारतीय का रोम-रोम पुलकित हो उठा। आज उसकी मेहनत पर आई थी, उसका संघर्ष सफल हुआ था—और वह बहुत खुश था, बहुत खुश! मानो, उसके विशाल हृदय में भी वह आनन्द समा नहीं रहा

था—तो, उसने अपना वह आनन्द चारों ओर बिखेरा और उसके उस मनमोहक और पवित्र स्वर की मधुर झंकार से समूचे विश्व का वायुमंडल गूँज उठा।

इतिहास साक्षी है, छः वर्ष पूर्व वाले उन एक हज़ार वर्षों में, ऐसा कौनसा ज़ुल्म है, जो भारतीयों ने न सहा हो; मगर उस दिन मानो उसके वे सभी घाव क्षण भर में ही पुर गये। दूसरों के द्वारा लगातार प्रताणित हुआ भारत, अपने संस्कारों के वशीभूत होकर, पलभर में ही उन बुराइयों को भूल गया और अपना वही विश्व-बन्धुत्व का महान् और आनन्दमय राग अलापने लगा। मानो, उसकी सोई हुई आत्मा भी जाग उठी और विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपना महान् सन्देश संसार को देने लगी। यही कारण है, जो आज भारत शान्ति के दूत के रूप में, विश्व के कोने-कोने में आदर प्राप्त कर रहा है। तो, संसार की मुश्किलें आसान होती जा-रही हैं।

तो, अगर आज आपसे मैं यह कहूँ कि भारत के इस सन्देश के रूप में उसकी हज़ारों-हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति प्रस्फुटित हो रही है तो मेरे इस कथन में कोई अतिशयोक्ति न होगी। वास्तव में, वृहस्पति के समान गुण और तेज वाला भारत, हज़ारों वर्षों से संसार को अपना यही सन्देश देता आया है। इसीलिए उसका इतिहास इतना गौरवशाली और भव्य है। इस गौरवमय भारत का वर्णन अपनी वाणी में भगवान् महावीर ने यत्र-तत्र अनेकों बार किया है। प्राचीन भारत की

विचार-परम्परा, इतिहास के पन्नों पर, आज भी अपने उसी रूप में सुरक्षित है। भारत के बच्चे-बच्चे के रोम-रोम में रमी है। आत्मा से परमात्मा बनने की धुन में वह सर्वदा ही मस्त रहा है। जीवन के उच्च आदर्शों में ही विश्वास करता आया है।

तो, प्रश्न होता है कि ऐसा भारत भी फिर गुलाम कैसे बना? परतन्त्र क्योंकर हो गया? विदेशियों के अधिकार में कैसे आ गया? तो, इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें एक हजार वर्ष पूर्व के कुछ वर्षों का इतिहास देखना होगा। और जब हम उन कुछ वर्षों का इतिहास देखते हैं तो यह बात हमारी समझ में भली प्रकार से आ जाती है। वास्तव में, भारत के इतिहास के उन पन्नों में उसकी आचार-हीनता की कहानी लिपिबद्ध हुई दीख पड़ती है। उसके विचारों के साथ उसके आचार का सम्बन्ध टूट गया-सा प्रतीत होता है। अध्यात्म के क्षेत्र में विचार तो वैसे ही उच्च और महान् दीख पड़ते हैं; मगर आचार की दृष्टि से वह शुद्ध और सात्विक दृष्टिगोचर नहीं होता। तो, आचार की दृष्टि से जब वह गिर गया, विश्व-बन्धुत्व का सन्देश देने वाला भारत जब परस्पर के व्यवहार में ही प्रेम का त्याग कर बैठा, एक घर के दो भाइयों के बीच ही जब मत-मुटाव पैदा हो गया—तो, मौका देख कर परतन्त्रता उस पर अपना अधिकार जमा बैठी। विदेशियों के चंगुल में वह फँस गया। मोक्ष की दूरी को नाँप डालने वाला भारत, आचार-हीन होते ही गुलाम बना दिया गया। तो, एक हजार वर्ष तक फिर

उसने अपनी गुलामी के दिन देखे, परतन्त्रता का अभिशाप रात-दिन सहना पड़ा—फिर, आज से छः वर्ष पूर्व वह स्वतन्त्र हुआ—कतिपय आचार-सम्पन्न अपने पुत्रों की तपस्या के बल पर! मगर सर्व-साधारण का आचरण अभी भी ज्यों का त्यों ही बना है—उसमें लेश-मात्र भी परिवर्त्तन हुआ नहीं दीख पड़ता—तो, आचार-हीन बने रह कर तो आप अपनी इस बहुत महँगी स्वतन्त्रता की रक्षा कर नहीं सकेंगे। इसलिए आवश्यकता है कि भारत का बच्चा-बच्चा अपने आचार को शुद्ध करे—अपने चरित्र को निर्मल बनाये। जैसे उसके विचार हैं, उन्हीं के अनुरूप उसका आचरण भी हो—तभी, इस स्वतन्त्रता की रक्षा हो सकेगी—अन्यथा नहीं।

मैं रोज ही देखता हूँ, एक साधारण से साधारण व्यक्ति भी मुझसे पूछा करता है—महाराज, भगवान् के दर्शन कैसे हों? विद्वानों और पंडितों के बीच भी यही चर्चा चला करती है। तो, मैं कहना चाहता हूँ कि जैसी तीव्र उत्कंठा, भारी लालसा आप ईश्वर के दर्शन की अपने मन में रखते हैं, वैसी ही बलवती इच्छा आत्म-दर्शन की आप अपने मन में क्यों नहीं जगाते! भगवान के दर्शन की इच्छा तो आप करते हैं; मगर पहिले अपने दर्शन करना तो सीखिये। अपने से बड़े माता, पिता, भाई और बहिन के दर्शन तो कीजिये। दुखी पड़ौसी के दर्शन तो कीजिये। उस भाई के दर्शन तो कीजिये; जो पीड़ा से कराह रहा है, भूख से व्याकुल है। और जब आप ऐसा करने लगेंगे—तो, आपको भगवान् के दर्शन

भी जरूर हो जायेंगे। आप भगवान् के दर्शन भी निश्चय ही कर लेंगे।

और अगर आप ऐसा नहीं करते, आत्म-दर्शन करने की बुद्धि आप में नहीं है, अगर आपके आचार की उच्चता नष्ट हो गई है—तो, आप विश्वास कीजिए, आप ईश्वर के दर्शन भी नहीं कर सकते। वास्तव में, जब आचार की उच्चता क्षीण होने लगती है—तो, धीरे-धीरे वह इतनी कमजोर हो जाती है कि एक दिन तनिक से ही निमित-मात्र से खील-खील होकर बिखर जाती है। जिस वृक्ष की जड़ें ही खोखली हो गई हैं, तो, एक दिन उसको हल्की सी हवा का एक हल्का-सा झोंका ही गिरा कर पृथ्वी पर सुला देता है—तो, हवा का झोंका तो निमित्त-मात्र है; मगर वृक्ष वास्तव में अपनी कमजोरी के कारण ही गिरा है। उपादान तो वह स्वयँ ही है। और ठीक ऐसी ही कहानी भारत की परतन्त्रता की है—उसको गुलामी में जकड़ने वाले अथवा उस पर एक हजार वर्ष तक निरकुंश शासन करने वाले विदेशी तो निमित्त-मात्र हैं। वास्तव में, आचार-हीनता के कारण हम इतने कमजोर हो गये थे कि वे विदेशी हम पर शासन जमा-सकने में समर्थ हो-सके; मगर जब हम में से कुछ का आचार शुद्ध होकर अपनी उच्चता के पथ पर अग्रसर हुआ—तो, शासकों की निरंकुशता से उसकी टक्कर हुई—उनकी निरंकुशता ने उसे बल-पूर्वक रोकना चाहा, भयंकरतम अस्त्र-शस्त्रों की सहायता से उसे नष्ट करने की कोशिश की; मगर वह इन सब ही की अवहेलना कर, इनके

साथ जूझता हुआ निरन्तर आगे बढ़ा और अन्त में स्वतन्त्रता को प्राप्त कर, आज से छः वर्ष पूर्व एक दिन खिलखिलाकर हँस पड़ा।

और उस दिन का वह दिन आज का ही दिन था—१५ अगस्त। १५ अगस्त सन् १९४७ को हम अपनी एक हज़ार वर्ष पुरानी गुलामी से मुक्त हुये—और आज भी १५ अगस्त है, सन् १९५३ का! उस दिन भी आप प्रसन्न हुये थे और आज भी आप खुश हैं। आपके हृदय में आनन्द हिलोरें मार रहा है, मगर मैं इस पुनीत अवसर पर कुछ और ही सोच रहा हूँ। मैं विचार कर रहा हूँ कि ऐसी वह कौन-सी बात है, कौन-सी कमी है, जिसके कारण छः वर्ष बीत जाने पर भी अभी तक सभी भारतियों के जीवन में चमक-दमक पैदा नहीं हो पाई है। तो, आज 'जिन्दाबाद' के नारे लगाकर ही सब्र कर लेने की बात मेरे मन में नहीं समा रही है—तो, आज के दिन मैं तो उस कारण की खोज में हूँ, जिसकी वजह से आज भी अधिकाँश भारतियों का जीवन स्थिर नहीं हो पाया है, वह इधर-उधर डगमग-डगमग कर डोल रहा है। अब भी उनका रोना बन्द नहीं हो-सका है। कुबेर का खज़ाना प्राप्त हो जाने पर भी कोई कौड़ी-कौड़ी के लिये भटकता फिरे, इन्द्र का सिंहासन मिल जाने पर भी रोये—तो, उसका कोई न कोई कारण तो होना ही चाहिये। तो, आज जब प्रजा, प्रजा भी है और राजा भी वही—फिर भी उसका यह रोना क्यों और कैसा? जब आज भारतवर्ष में प्रजातन्त्र है,

प्रजा का राज है—तो भी प्रजा भूखी क्यों है ? वह दुखी क्यों है ? तो, इसका एक-मात्र कारण मैं तो यही समझता हूँ कि अभी प्रजा-जनों में वह योग्यता पैदा नहीं हो पाई है कि वे जिम्मेदारी या शासन की कुर्सियों पर बैठ सकें। उस कुर्सी पर बैठने के फर्तव्य को समझ सकें और पूरा कर सके। अपनी जिम्मेदारियों को पूर्ण योग्यता के साथ निभा सके। यही कारण है जो आज समूचे देश मे बेकारी और भूख का ताण्डव-नृत्य सा हो रहा है। प्रजा बेरोजगार और भूखी है।

जब व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को भूल जाता है तो जीवन के वास्तविक ध्येय से भी बहुत दूर हट जाता है। फिर, वह हवा से बातें करने लग जाता है-और आज ठीक यही दशा उन लोगों की है, जिनके हाथों में आज देश का शासन है। जनसाधारण ने जिन्हें अपना नेता माना है और विश्वास-पूर्वक चुनकर जिन्हें अपने ऊपर शासन करने के लिये सरकारी भवनों में पड़ी उन कुर्सियों पर बैठा दिया है। मगर आज वे ही अपने कर्त्तव्य को भूल हवा से बातें करने लग गये हैं। अपनी भूलों को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं और उन्हें दूसरे के सिर मढ़ने की कोशिश करते हैं—तो, ऐसा जान पड़ता है—जैसे भारत की आध्यात्मिक जीवन-सरिता ने आज गंदे नाले का रूप धारण कर लिया है और अपने इस रूप की ओर से भारतीय शासक-वर्ग उदासीन होगया है। तो, प्रजा का भी नैतिक पतन हो रहा है। उसका जीवन दुखमय होता जा-रहा है।

यही कारण है जो आज हर घर, गली और कूँचे में पापमय जीवन व्यतीत होरहा है। और प्रजा इस दोष को सरकार का दोष बता रही है। वह कहती है, देश के सिंहासन पर आज राक्षस बैठे हैं। उनमें देव कम हैं और दानव अधिक! इसीलिये आज हमारी यह दशा होरही है। मगर प्रजा के इस कथन के उत्तर में सरकार सारा दोष प्रजा के सिर पर डालती है। वह कहती है, हमने तो रामराज्य की व्यवस्था की हुई है; मगर प्रजा हमारा साथ ही नहीं देती। वह अपने कर्त्तव्य को पहिचानती ही नहीं। इस तरह प्रजा शासक-वर्ग को दोषी बनाती है और शासक-वर्ग प्रजा पर दोषारोपण करता है—तो, उत्तरदायित्व बेचारा बीच में ठोकरें खाता फिरता है।

आजकल आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही बात देखने में आरही है। गुरु लोग समय को दोष देते हुये कहते हैं—कलियुग आगया है—भाई, कलियुग! इसीलिये आजकल सब नास्तिक बनते जा-रहे हैं। ऐसी दशा में किया भी क्या जाये? तो, उनके इस प्रश्न के उत्तर में मैं कहता हूँ—हाँ, किया जा ही क्या सकता है, ठीक है, मगर हाँ, मातम तो मनाया जा-सकता है। और उनके शिष्यों से बातें करो—तो, वे बोलते हैं—गुरुओं का सिंहासन न जाने किस तरफ से डोल रहा है, हमें कुछ प्रेरणा ही नहीं मिल रही है। और इस तरह गुरु अपने भक्तों पर और भक्त अपने गुरुओं पर अपना-अपना उत्तरदायित्व डालकर सन्तोष कर लेने के अभ्यस्त होगये हैं। और ठीक यही विचार धारा आजकल

परिवारों में भी चल पड़ी है। पति-पत्नि, पिता-पुत्र और सास-बहू सब अपना २ उत्तरदायित्व एक-दूसरे पर डाल देने में ही अपनी कुशलता समझने लगे हैं। और इस बात का सीधा-सादा अर्थ है कि आजकल सभी अपनी कमजोरियों को दूसरे को बता देने में अत्यन्त चतुर होगये हैं—तो, अपने कर्त्तव्यों को बिल्कुल भुला बैठे हैं। यही कारण है, जो आजकल सब की ऐसी मनोवृत्ति होगई है।

क्या वैदिक-धर्म और क्या जैन-धर्म आदि सभी धर्मों में इस प्रकार की योजनाएँ दी हुई हैं, जिनको व्यवहार में लाने पर सभी कार्य सुधर सकते हैं। राजा और प्रजा अपने-अपने कर्त्तव्यों को पहिचान कर अपने-अपने उत्तरदायित्व को भली प्रकार से निभा सकते हैं। पिता अपने कर्त्तव्यों को और पुत्र अपने! पति अपने और पत्नि अपने! तो, इस तरह भारत एक बार फिर कर्त्तव्य-निष्ठ होकर सत्य का सन्देश समूचे विश्व को दे सकता है। तो, आवश्यकता है; अपनी भूलों को स्वीकार कर उनको सुधारने की! आत्म-दर्शन के द्वारा जीवन को उन्नतिशील बनाने की!

एक बार की बात है, महात्मा गोखले एक अति आवश्यक लेख लिखने में संलग्न थे—कि उनके कलम की रोशनाई चुक गई—तो उसी कमरे के दूसरे कौने में बैठे अपने नन्हे पुत्र से उन्होंने कहा—बेटा, जरा दवात देना। और आज्ञाकारी पुत्र दवात लेकर उनके सम्मुख खड़ा हो गया। मगर गोखले अपने कार्य में इतने व्यस्त थे कि उन्होंने फिर कहा—बेटा, दवात ? तो,

पुत्र दवात को उनके हाथ में देता है। तभी, आभास-मात्र के सहारे गोखले अपना हाथ दवात की ओर बढ़ाते हैं तो हाथ उनका दवात से टकरा जाता है और दवात उल्टी होजाती है, वह बिखर जाती है और फ़र्श को ख़राब कर देती है। तब, गोखले का ध्यान भंग होकर उस ओर जाता है तो वह कहने लगते हैं—ओह, मैंने दवात को ठीक तरह से पकड़ा नहीं, इसीलिये वह बिखर गई और फ़र्श भी ख़राब होगया। मगर अपने पिता की इस बात को सुनकर शुद्ध आचरण वाला वह पुत्र कहता है—भूल मेरी है, पिता जी! मैंने भली प्रकार से आपके हाथों में उसे थमाया नहीं। तो अपने अच्छे पुत्र की इस बात को सुनकर पिता का रोम-रोम पुलकित हो उठता है।

बात बहुत छोटी-सी है; मगर कितनी महान् है—यह! दवात गिरने की जिम्मेदारी पिता अपने ऊपर ले रहा है और पुत्र अपने ऊपर! तो आज अगर प्रत्येक भारतीय की यही मनोवृत्ति हो जाये, अपनी भूल को स्वीकार कर लेने की महत्ता उसमें उत्पन्न हो जाये—तो, आज जो एक-दूसरे पर छींटा-कशी होती है, वह न हो—और प्रत्येक अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में ही अपना गौरव समझने लगे। मगर आज-कल हो रहा है, ठीक इसके विपरीत! हम बातें तो लम्बी-लम्बी करते हैं और एक-दूसरे की ख़ामी भी ख़ूब निकालते हैं; लेकिन हम स्वयँ क्या हैं, उस समय यह नहीं सोचते। हम अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं या नहीं—यह जानने का कष्ट नहीं करते।

अपने जीवन में झाँकने का प्रयत्न नहीं करते। तो भली प्रकार से अपने उत्तरदायित्व को भी नहीं समझ पाते—उसको निभाना तो फिर बहुत दूर की बात है।

तो, सुखी और आनन्दमय, उन्नतिशील और समृद्ध बनने के लिये जरूरी है कि व्यक्ति पहिले अपनी जिम्मेदारियों को समझे—अपनी भूलों को सुधारने की कोशिश करे। वास्तव में, क्या घर में, क्या परिवार मे, क्या समाज और राष्ट्र में पहिले इसी बात को जानने की आवश्यकता होती है। और जब व्यक्ति इस बात को भली प्रकार से समझ लेता है—तो, वह जीवन की अच्छाइयो को प्राप्त करता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता है। मगर अच्छाइयों को प्राप्त करते समय भी उसका यह विचार बराबर बना रहना चाहिये—कि मुझे प्राप्त यह अच्छाई पहिले पड़ोसी की है और फिर मेरी—उन्नति के पथ पर अग्रसर होना तभी सम्भव है, अन्यथा नहीं। अध्यात्म की भाषा में मुनिवर व्यास ने महाभारत में एक स्थान पर लिखा है—भोजन अमृत है और विष भी! और उनके इस वाक्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा-सकता है—नौकर अपने स्वामी के लिए महनत करता है; मगर स्वामी उसकी ओर ध्यान ही नहीं देता। स्वयँ तो अच्छे से अच्छा और भर-पेट भोजन करे, मगर बेचारा नौकर, जो उस भोजन को पैदा करे, भूखा ही सो जाये—दूसरे शब्दों में, मालिक अपने कर्त्तव्य को भूल जाये और इस ओर ध्यान ही न दे—तो, मालिक जो भोजन करता है तो वह भोजन विष नहीं है

तो और क्या है ? इसी प्रकार जो केवल अपने लिये ही सामग्री जुटाता है और स्वयं ही उसका उपभोग भी करता है तो कहना पड़ेगा कि वह विष खाता है, अमृत नहीं। पाप उदरस्थ करता है, पुण्य नहीं।

मनुष्य स्वयं में अथवा दस-पाँच व्यक्तियों के अपने परिवार में ही अवरुद्ध होकर रह गया—उसने जीवन-भर अपने लिये अथवा अपने परिवार के व्यक्तियों के लिये ही सब कुछ-किया तो क्या किया। यह तो जानवरों की-सी खसलत को उसने पूर्ण किया, इसमें इन्सानियत का तक़ाज़ा कहाँ पूरा हुआ। इसलिये इन्सानियत का दम-भरने वाले इन्सान का कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन को पड़ौसियों और राष्ट्र के लोगों में बांट दे। उसका जीवन सभी के लिये हो। मानव-मात्र के उपयोग में उसका जीवन आये-तभी, उसका यह दावा सच्चा है।

मगर आम तौर से देखने में यही आता है कि मनुष्य परिवार से आगे बढ़ने की कोशिश ही नहीं करते। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में प्रवेश करने की इच्छा ही नहीं करते। अगर इससे कुछ लोग आगे बढ़ते भी हैं—तो, वे गाँव, नगर अथवा प्रान्त में अटक कर रह जाते हैं। तो, इसका नाम तो राष्ट्रीय चेतना नहीं है। न यह मानव-धर्म ही है—यही कारण है, जो गाँव, नगर या प्रान्त के खूँटे से बँधने वाले लोगों के द्वारा संकुचित विचारों का विकास होता है। तुच्छ भावनाओं को आगे बढ़ाया जाता है। वास्तव में, ग्राम-वाद, नगर-वाद और प्रान्त-

वाद को जन्म देने का श्रेय ऐसे ही लोगों को है। संसार में इस विष के फैलाने वाले ये ही लोग हैं। और धार्मिक क्षेत्र में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो जातीयता, पंथ-वाद और अन्ध-विश्वास का विष वितरण करने में बहुत ही चतुर और साहसी हैं। वे यह जानना चाहते ही नहीं कि उनके द्वारा मानव-समाज की कितनी हानि होती है। तो वे जान-बूझ कर इस ओर से अनजान बने रहते हैं। मानव-धर्म की महत्ता में उनका विश्वास ही नहीं होता और न उसमें वे विश्वास करना ही चाहते हैं। वे तो विवाह-भोज और मृत्यु-भोजों से ही बँधे पड़े हैं और उन्हीं अवसरों पर दो को परस्पर लड़ाकर अपनी कार्य-कुशलता और बुद्धिमत्ता का परिचय देकर जीवन की इतिश्री समझ लेते हैं। इससे आगे की बात वे सोचना भी नहीं चाहते और न आगे ही बढ़ना चाहते हैं।

एक गाँव में एक लड़के का विवाह था। जिस जाति का वह लड़का था, उस जाति में ऐसा रिवाज़ था कि जब किसी लड़के की शादी होती थी तो उस लड़के को गदहे पर चढ़ना होता था। तो, रिवाज़ के अनुसार उस लड़के से भी गदहे पर चढ़ने के लिए कहा गया। मगर पढ़े-लिखे और समझदार उस लड़के को गदहे पर चढ़ना रुचिकर न जान पड़ा और उसने पुरातन उस रिवाज़ को मानने से इन्कार कर दिया। बस, अब क्या था, सारी बिरादरी में एक तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। एक बवंडर मच गया। जिधर सुनो, उधर एक यही चर्चा!

कोई आजकल की शिक्षा को दोष दे रहा था। कोई उस लायक़ लड़के को नालायक़ बतला रहा था।

तो, मैं सोचता हूँ, जब यह संकुचित मनोवृत्ति आज भी क़ायम है—लोगों के दिलों में—तो, भारतवर्ष को जो स्वतन्त्रता मिली है, वह कितने दिन ठहर सकेगी। गांधी जी की तपस्या उसको कितने दिनों तक रक्षा कर सकेगी। जब गदहे पर चढ़ना उचित है या नहीं, लोग इस ज़रासी बात पर भी विचार करने के लिए तैयार नहीं हैं, तब स्वतन्त्रता को क़ायम रखने की बात सोचना तो ऐसे लोगों के लिए हिमालय की चोटी पर चढ़ने के समान है।

तो, अगर आप अपनी इस जीवन-दायिनी और गौरव-शालिनी स्वतन्त्रता को क़ायम रखना चाहते हैं तो आगे बढ़िए। अपने विचारों में परिवर्तन लाइये। विचारों को शुद्ध बनाइये और अरुचिकर तथा हानिप्रद इन परम्पराओं को तोड़ डालिए। संकुचित मनोवृत्ति को त्याग दीजिए और विचारों को उच्च बनाइये। अगर कोई हरिजन भाई दुख से व्याकुल होकर किसी गली-कूँचे में गिर पड़ा है—तो, उसे उठाकर अँग लगाइये। उसके दुख को दूर करने की कोशिश कीजिए। उससे दूर भागने की कोशिश मत कीजिए। जब आप एक घायल कुत्ते को तुरन्त उठाकर उसका उपचार करने का प्रयत्न करते हैं—तो, मनुष्य से इतनी नफ़रत क्यों? आगे बढ़ने से आप डरते क्यों हैं—हिच-किचाते क्यों हैं? रोते क्यों हैं? स्वराज्य डरने और रोने वालों के

पास नहीं ठहरता। केवल खादी के कपड़े पहिन लेने से कुछ भी नहीं होगा। अगर आप गन्दे, सड़े और गले विचारों को नहीं त्याग सकते—तो, स्वराज्य और मोक्ष की बातें करने से क्या लाभ? कपट, माया, लोभ, अंध-विश्वास आदि दुर्गुणों का जब तक आप त्याग नहीं करेंगे—तब तक आपको स्वराज्य का वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। आपके मन में मोक्ष का प्रकाश नहीं जग सकता। तो, जीवन में उच्च-आदर्श को स्थापित कीजिये और उसी के अनुसार कार्य भी कीजिये। तभी, आप स्वराज्य की रक्षा भली प्रकार से कर सकेंगे, मोक्ष के मार्ग पर भी सफलता-पूर्वक बढ़ सकेंगे।

अक्सर देखने-सुनने में आता है कि लोग बातें तो ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की करते हैं; मगर जब पड़ौसी को ऊपर उठाने की बात आती है तो न मालूम उनके आदर्श कहाँ चले जाते हैं। उन आदर्शों से सम्बन्धित उनके वे विचार न जाने कौन से कोने में जाकर समा जाते हैं। फिर तो वे स्वयँ भी अपने उन आदर्शों को भूल जाते हैं—इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि स्वयँ भी आगे बढ़ो और अपने पड़ौसी को भी आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करो—और अपना यह कर्त्तव्य राष्ट्र और समूची मानव-जाति के प्रति निभाओ। किसी संकुचित दायरे में क़ैद न होकर समूची मानव-जाति के लिए विवेक-पूर्ण जीवन व्यतीत करो। जो मनुष्य राष्ट्र से पीछे रहता है, वह पाप करता है। मानव-जीवन का आनन्द इसी में है कि अपने,

आप ही स्वामी बन कर रहो। न किसी के स्वयँ ग़ुलाम बनो और न किसी को अपना ग़ुलाम बनाओ। अपनी स्वतन्त्रता की भी रक्षा करो और दूसरे की स्वतन्त्रता का भी हरण मत करो। अपने जीवन को भी अल्प मत समझो और न किसी दूसरे के जीवन को भी—अपने और दूसरे को हीन समझने से मन में हीन-भावना और बुद्धि-हीनता की जड़ें मज़बूत होती हैं। फिर तो आपका जीवन कीड़े-मकोड़ों का-सा जीवन हो-जायेगा। निकम्मा और अर्थ-हीन! यह तो रोते रहना जैसा है। और जो बुद्धि-सम्पन्न मनुष्य के लिए गौरव की बात नहीं है।

स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये राजा और प्रजा दोनों के ही विचार उच्च होने चाहिएँ। दोनों के ही कार्य जीवित, जागृत और उन आदर्शों के अनुकूल होने चाहिएँ। तभी आप अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा और उसका उपभोग कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। भारतीय किसी कवि ने गाया है—

अधीन होकर बुरा है जीना,
है मरना अच्छा स्वतन्त्र होकर!
सरल को तजकर गरल से प्याला,
है मरना अच्छा स्वतन्त्र होकर!

स्वतन्त्र होने के लिए अगर मरना भी पड़े तो यह श्रेष्ठ है—बनिस्बत इस बात के कि जीवित तो रहे; मगर ग़ुलाम बने रह कर जीवित रहे—तो, क्या हुआ। ग़ुलाम बनना पड़ा और इसीलिए आपको तीन लोक का राज्य मिल गया—तो, क्या

हुआ। गुलाम बनने पर अगर आप को स्वर्ग भी मिले तो उसे अंगीकार नहीं करना चाहिए। स्वतन्त्र बने रहने पर अगर नरक भी भोगना पड़े तो नरक के उन कष्टों को आनन्द-पूर्वक भोग लेना अधिक अच्छा है।

तो, इतनी मूल्यवान स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये राजा और प्रजा दोनों को ही मिलजुल कर कार्य करना चाहिए। अब जब भारत स्वतन्त्र हो गया है तो उसके किसी प्रजा-जन का रोटी के लिये रुदन करना किसी के लिए भी शोभा-जनक नहीं है। प्रजा के किसी व्यक्ति का नंगा-उघाड़ा और भूखा रहना शासक-वर्ग और अन्य सभी प्रजा-जनों के लिए घोर लज्जा की बात कही जा-सकती है। मैं जब विहार करता हुआ साँचोर गया तो वहाँ एक लड़के को देखा, जो हड्डियों का केवल ढाँचा-मात्र था। पहिनने के लिए, वस्त्रों के नाम पर, जिसके पास एक साबुत लँगोटी भी न थी। मैंने उससे पूछा—कहाँ जा रहे हो ? तो, जबाब मिला—भीख माँगने जा-रहा हूँ। तो, स्वतन्त्र भारत के लिए क्या यह कलंक की बात नहीं है। तो, क्या अपने इस कलंक को हमें और हमारी सरकार को शीघ्र से शीघ्र नहीं धो-पोंछ डालना चाहिए। तो, इस प्रश्न के उत्तर में मैं तो यही कहूँगा कि जरूर। अवश्य !

मगर जरूर और अवश्य कह देने-मात्र से ही काम नहीं चलेगा। उसके लिये सरकार और प्रजा दोनों को ही कार्य करना पड़ेगा। और इस पवित्र कार्य को करने के लिये आवश्यकता है कि हम एक दूसरे पर अत्याचार करने की प्रवृत्ति को त्याग दें।

अपने मन को क़ाबू में रक्खें। जीवन के उच्चादर्शों में विश्वास करें और उन्हीं के अनुरूप अपने जीवन को आगे बढ़ाएँ। अपने विकारों से लड़ें। अपनी बुराइयों को मारकर दूर भगादें। कुविचारों की कड़ियों को तोड़ दें और सद्भावना को मन में जगाएँ। अपनी भूलों को स्वीकार करें और अपना दोष किसी दूसरे पर लादने की कोशिश को छोड़ दें। भाग्य का दोष मानकर हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे न रहे। जीवन को महान् बनाने के लिये कर्मठ जीवन व्यतीत करें। प्रत्येक नागरिक को जीवन में आगे बढ़ने के लिये सरकार की ओर से सुविधाएँ प्राप्त हों।

अगर भारतीयों को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है—तो, उन्हें अपने जीवन में सत्य को स्थान देना ही होगा। कर्त्तव्य-पालन को स्थान देना ही होगा। जीवन के उच्चादर्शों में विश्वास करना ही होगा। तभी, उनकी यह गौरवमयी स्वतन्त्रता क़ायम रह सकती है, अन्यथा नहीं।

तो, आज जितने भी भाई यहाँ पर उपस्थित हैं और स्वतन्त्रता की वर्ष-गाँठ मनाने में फूले नहीं समा रहे हैं, वे आज इस पुण्य-अवसर पर प्रण करें कि वे अभी से ही अपना और अन्यों का जीवन सुधारने का कार्य प्रारम्भ कर देंगे और इस निमित्त से आगे बढ़ने में जो भी कठिनाइयाँ उनके सम्मुख आयेंगी, उन्हें दूर हटाते हुए वे निरन्तर प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते चले जायेंगे। दूसरों को भी आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा और अवसर देंगे। इसलिए कि भारत की स्वतन्त्रता चिरजीवी हो। वह

दिन-प्रति-दिन फले और फूले।

स्वयँ भी जीवन में आगे बढ़ो और दूसरों को भी आगे बढ़ने का अवसर दो—तो, जीवन धन्य है!

जोधपुर }
१५-८-५४ }

रक्षा के धागे !

यदि हम भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास को टटोल कर देखें तो यह कथन सत्य ही प्रतीत होगा कि भारतवर्ष पर्वों और त्यौहारों का देश है। यों-तो प्रत्येक देश में, वहाँ के निवासियों के द्वारा, वर्ष-भीतर दो-चार-दस-बीस त्यौहार मनाये ही जाते हैं; मगर भारतवर्ष में मनाये जाने वाले त्यौहारों की गणना उँगलियों पर कर लेना सम्भव प्रतीत नहीं होता। वास्तव में, यहाँ पर सम्पन्न होने वाले त्यौहारों की संख्या इतनी अधिक है कि कोई विदेशी उन्हें गिनने के लिए बैठता है तो उसके कुल जोड़ को देख कर अवाक् रह जाता है—और यह कह कर ही अपना पिंड छुड़ा लेता है कि भारतवर्ष पर्वों और त्यौहारों का देश है। मानो, यहाँ पर मनाये जाने वाले त्यौहारों की कुल

संख्या बतलाते हुये उसे ताऽज्जुब के साथ-साथ भय भी प्रतीत होता है। भय इसलिए कि कहीं कुछ और त्यौहार तो बाक़ी नहीं रह गये, जो मेरी गणना में न आये हों। और बाद में, विद्वानों के द्वारा मेरी गणना को ग़लत सिद्ध किया जाये तो मुझे लज्जा का अनुभव करना पड़े। इसलिए इस विषय में वह मौन ही रहना पसन्द करता है।

दरअसल त्यौहारों का मनाना सुख और समृद्धि का चिन्ह है। जो जातियाँ जितनी ही दार्शनिक विचारों से ओत-प्रोत, धन-धान्य से परिपूर्ण और उदार भावनाओं से सम्पन्न होती हैं, उनके पर्वों की सख्या भी उतनी ही अधिक होती है। मगर जो जाति टुकड़ों टुकड़ों में विभक्त होकर रह रही हो, जिसने कभी दर्शन के क्षेत्र मे क़दम ही न रक्खा हो, जिसने कभी आत्मा से परमात्मा बनने के रहस्यों की खोज ही न की हो, जिसने जीवन-विकास के पथ को कभी अपनाया ही न हो और जिसने अपने मन में उदार भावनाओं को कभी जगाया ही न हो, वह जाति त्यौहारो के महत्व को भला समझ ही किस प्रकार सकती है। इसीलिए उस जाति के त्यौहारों की संख्या दो-चार या दस-बीस तक ही पहुँच पाती है।

मगर जब हम भारतवर्ष के धर्म-ग्रन्थों को पढ़ते हैं—निर्णय-सिन्धु, धर्म-सिन्धु तथा वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म-ग्रन्थों को—तो, ज्ञात पड़ता है कि वर्ष में दिन तो तीन सौ साठ ही होते हैं; मगर पर्व तीन सौ साठ से भी कहीं अधिक! और

इतने अधिक कि जब एक-एक दिन में पाँच-पाँच और दस-दस पर्व मनाये जाँय—तब कहीं जाकर वर्ष-भीतर पूरे हों। तो, कितना उल्लास और आनन्द-प्रिय जीवन जान पड़ता है—भारतियों का ! और वास्तव में, उनका जीवन ऐसा ही था—सत्य की ओर उन्मुख और आत्मानन्द में पगा-पगा ! तभी तो उनके पर्व इतने अधिक हैं कि एक घर का प्रत्येक सदस्य प्रत्येक दिन अगर उनको एक-एक कर मनाने बैठे—तब कहीं जाकर वे पूरे हों। तब कहीं उस गृहस्थ को अपने सम्पूर्ण पर्वों का आनन्द अनुभव हो।

साथ ही ये सभी पर्व इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उन सभी पर्वों की महत्ता के दर्शन करते हुए हृदय गद्गद् हो जाता है। वास्तव में, भारतवर्ष के प्रत्येक पर्व के साथ में सद्भावना के ऐसे परिच्छेद जुड़े हुए हैं कि पवित्रता की चल-लहरी वहाँ सदा प्रवाहित रहती है। आत्मा का विकास वहाँ स्पष्ट लक्षित होता है। जीवन की महत्ता के दर्शन वहाँ अनायास हो हो जाते हैं। मानवता खिलखिला कर हँसती हुई-सी दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में, इन पर्वों में निहित भावनाएँ भारतवासियों के परमानन्द को परिचायक हैं। और उनकी इन भावनाओं में सारे विश्व का कल्याण, प्राणी-मात्र का कल्याण अपने परम् पवित्र रूप में सदा सजग रह कर जीव-मात्र के मन में आनन्द की एक लहर-सी प्रवाहित कर देता है। जन-जन और प्रत्येक जीवन के मन में उत्साह और उमंग को जगा कर उसे

परमानन्द में लीन कर देता है। और उनके मन का यह मोद फिर जीवनोपयोगी समस्याओं को सुलझाने में बहुत ही सहायक सिद्ध होता है। यही कारण है जो भारतवासी सर्वदा ईश्वरोन्मुख ही रहे हैं, उन्होंने भौतिक सुख की अधिक चिन्ता नहीं की है। संसार-भर की लक्ष्मी को उन्होंने चरणों में स्थान दिया है और ज्ञान के तेजोमय प्रकाश को उन्होंने अपने शीश पर धारण किया है। तो, मनुष्य के मन को ललचाने वाले दुनियाँ के अस्थायी सुखों को उन्होंने प्राप्त कर सर्वदा ही तृणवत् छोड़ दिया है और आत्म-दर्शन के कठोर, मगर परम् पुनीत मार्ग को ही सदा अपनाया है। इसीलिए वे आत्मा से परमात्मा बन सके हैं, आत्मा से परमात्मा बने हैं—आत्मा से परमात्मा !

और आज का यह पर्व, रक्षा-बंधन का यह पर्व भी, इस पर्व-माला का एक अनमोल मनका है। इस पर्व-माला के दानों के बीच इसका एक महत्त्व-पूर्ण स्थान है। और इसका इतिहास भी गौरव-पूर्ण है। मगर जब इसकी प्रारंभिक तिथि को खोजने बैठते हैं—तो, उसका पता चलाना एक मुश्किल काम हो-जाता है, हमारे लिए ! क्योंकि हमारी पहुँच के जिस काल तक भी हमारी दृष्टि जाती है, वहाँ तक हमें इसका उद्गम-स्थान नहीं दिखलाई देता। उस काल में भी केवल इसका मनाया जाना ही सिद्ध होता है। भगवान् पार्श्वनाथ के समय में, भगवान् महावीर के युग में, पुराणों और उपनिषदों के काल में, इसके मनाये जाने का ही पता चलता है, कहीं भी इसका प्रारंभिक काल दिखलाई

नहीं देता। कहीं भी इसकी जन्म-तिथि का पता नहीं चलता। तो, जान पड़ता है, यह पर्व बहुत पुराना है। सम्भव है, इसकी प्रारम्भिक-तिथि भी वही हो, जो गुरु-शिष्य-परम्परा की है। और जिस तिथि के विषय में हम बिल्कुल अनभिज्ञ हैं।

तो, बहुत ही पुराने इस पर्व के दिन, आज इस पूर्णमाशी के दिन, हजारो-हजारों वर्षों से सर्वदा ही—अपनी-अपनी धर्म-परम्पराओं के अनुसार हजारों विद्यार्थी अपनी-अपनी धर्म-पुस्तकों को लेकर अपने-अपने गुरुओं के सम्मुख ज्ञानार्जन के लिये खड़े होते आये हैं। और गुरुओं ने हमेशा ही आज के दिन धर्म-ग्रन्थों का एक नवीन परिच्छेद शुरू किया है। और इस तरह आज के इस पुनीत दिवस पर प्रति-वर्ष हजारों शिष्य धर्म के मार्ग पर दो क़दम आगे बढ़े हैं। धर्म की पवित्र गंगा में उन्होंने गहरी डुबकियाँ लगाई हैं और जीवन और जगत् के अनेक रहस्यों को खोज निकाला है। परलोक और परमात्मा के रहस्यों को ढूँढ निकाला है। तो, इस पर्व को सर्वदा ही युग-परिवर्तन-कर्त्ता का श्रेय प्राप्त होता रहा है। वास्तव में, यह पर्व हमेशा ही भारतीय जन-जीवन में एक नया मोड़ उपस्थित करता आया है—इसीलिए इस पर्व को युग-परिवर्त्तन-कर्त्ता भी कहा गया है।

अगर हम भारतीय संस्कृति के अथाह सागर में गहरी डुबकियाँ लगावें तो ज्ञात होगा कि इस पर्व का प्रारम्भिक काल आज के इतिहासकारों की भाषा में प्रायः ऐतिहासिक श्रमण एवं ब्राह्मणों के युग में व्यतीत हुआ है—और मूल रूप से वे ही इसके

कर्त्ता माने गये हैं। उन्होंने ही इसको यह रूप दिया और वे ही उस युग में महत्वशाली इस पर्व के दिन ज्ञान की अखड ज्योति को जलाते रहे हैं। मगर अब जब आज के ब्राह्मणों की ओर दृष्टि जाती है—तो, सोचने के लिए बाधित होना पड़ता है—कि कल के ब्राह्मण क्या होंगे ? मगर यह प्रश्न आज केवल ब्राह्मणों पर ही अटक कर नहीं रह जाता—क्षत्रियों पर भी लागू होता है और लम्बी-चौड़ी पगड़ियाँ धारण करने वाले, लाखों-करोड़ों का रोज हिसाब करने वाले वैश्यों पर भी लागू होता है। फिर, यह प्रश्न कुछ साधारण लोगों पर ही लागू नहीं होता; बल्कि ऊँचे-ऊँचे सिंहासनों पर बैठने वालों पर भी घटित होता है। सोचना पड़ता है कि आज ये सब क्या हैं और कल ये सब क्या बनेंगे ? कल ये सब क्या हो-जायेंगे ? भूत-काल मे ये सब लोग क्या थे, आज क्या हैं और भविष्य में ये क्या हो-जायेंगे ?

तो, इस रूप में इन सबको नापने के लिए आज का यह वर्त्तमान गज तो काम में लाया नहीं जा-सकता—क्योंकि आज का यह गज तो इन सबकी तरह ही बहुत छोटा और निकम्मा हो गया है। अपनी असलियत को खो-बैठा है—तो, इनके विचारों और चिन्तन को नापने के लिये आज के इस गज में भी क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करने होंगे। उसमें ज्ञान के प्रकाश की नई चमक पैदा करनी होगी। और उस चमक में उसकी लम्बाई-चौड़ाई को ठीक करना होगा। उस गज को उचित दशा में लाना होगा—तभी, अज्ञान की अन्धेरी गलियों में भटकने

वाले इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को भली और ठीक प्रकार से नापा जा-सकेगा। उनके विचारों और चिन्तन को उचित रूप में नापा जा-सकेगा।

एक समय ये ब्राह्मण क्या थे और आज क्या हैं और कल ये क्या हो-जायेंगे ? सोचना यह है, जानना यह है। और इसी एक प्रश्न में हमारे वर्त्तमान जीवन की समस्याएँ निहित हैं। हमारा भविष्य अपने सम्बन्ध में जानने के लिये उत्सुक होकर बैठा है। तो, भूतकाल की बात मैं कह रहा था—एक समय ये ब्राह्मण परम्-ब्रह्म के मुख थे। इनके मुख से निकला हुआ वाक्य असत्य नहीं हुआ करता था। पत्थर की लकीर-सा अमिट हो जाया करता था। उन्हीं दिनों, एक दिन, एक किसी ने एक ऋषि से पूछा—ये ब्राह्मण कौन हैं और क्या हैं ? तो, उसके इस प्रश्न के उत्तर में उस ऋषि ने कहा—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत !' अर्थात् ये ब्राह्मण जगत के परम्-ब्रह्म के मुख हैं। जब किसी के भय और आतंक के कारण सारे जगत् का मुख बन्द हो जाया करता था, तब भी ब्राह्मण का मुख खुला रहा करता था। शूली की नोक पर बैठकर भी उसका मुख खुला रहा करता था। उसकी भव्य-वाणी अपना ओज बिखेरती रहा करती थी। इस प्रकार उसके मुख को शूली की नोक भी बन्द नहीं कर पाती थी और संसार का कोई बड़े से बड़ा प्रलोभन भी नहीं। सामने पड़े हुए सोने के ढेर पर भी उसके त्याग की वाणी अविराम गति से थिरकती रहा करती थी। तो,

उस समय, एक समय—ऐसे थे, ये ब्राह्मण ! ये श्रमण ! जिन्होंने प्रत्येक दशा में, हर सूरत में अपनी त्यागमयी वाणी के द्वारा संसार को ज्ञान के आलोक से आलोकित रक्खा। ज्ञान के प्रकाश की मशाल को अपने हाथों में लेकर ये ब्राह्मण, ये श्रमण, कठिन से कठिन परिस्थितियों का मुकाबला करते हुये, संसार को ज्ञान के आलोक से आलोकित करने के हेतु, विश्व के कोने-कोने में घूमे। उन्होंने मार्ग की विघ्न-बाधाओं का डटकर मुकाबिला किया और हमेशा विजयी होकर अपने पथ पर निरन्तर आगे बढ़े।

वैदिक संस्कृति का एक आख्यान है—किसी समय में बलि नामक एक राजा बहुत धर्मात्मा और औघड़ दानी था। जब उसके दान की कीर्ति समूचे भूमंडल में व्याप्त हो गई तो विष्णु को उसकी परीक्षा करने की सूझी—और वह ब्राह्मण के रूप में उसके सम्मुख उपस्थित हुये। तो, उन दिनों ऐसा भव्य रूप था—ब्राह्मणों का—कि विष्णु को भी ब्राह्मण का रूप धारण करना पड़ा। विष्णु को भी ब्राह्मण के सर्वमान्य रूप में आना पड़ा।

तो, ऐसा आदरणीय रूप था उन दिनों ब्राह्मणों का ! अभी-अभी जो आपके सम्मुख सह-मन्त्री जी ने एक कहानी कही—उसमें भी विष्णु मुनि के इसी ओजस्वी रूप का वर्णन है। वह निडर भाव से उस राक्षस वृत्ति के राजा के सम्मुख जाकर खड़े हो-जाते हैं। उस समय उनका दिल काँपता नहीं, उनके हाथ-पैर लड़खड़ा नहीं जाते और न उनकी वाणी में ही

कम्पन होता है। वह तो अपने हाथ में ज्ञान की मशाल को लेकर अविचलित भाव से उस दुष्ट वृत्तियों वाले राजा के सम्मुख जाकर खड़े हो-जाते हैं—अडिग भाव को अपने हृदय में बसा कर !

मगर उस राजा का रूप कुछ दूसरा ही है। राजा बलि जैसा राजा वह नहीं है। वह अन्यायी और कुमार्गी राजा यह विचार नहीं करता कि इस संसार में जीवित रहने का जितना हक़ मुझे है, उतना ही संसार के सभी प्राणियों को है। इसके विपरीत वह तो यही सोचता है—कि संसार में जीवित रहने और स्वच्छन्दता-पूर्वक जीवन-यात्रा को तय करने का अधिकार मुझे ही मिला है। इस दुनियाँ में निरंकुश हाथी के समान मैं कहीं भी और किधर ही घूम-फिर सकता हूँ—हज़ारों को अपने पैरों-तले रौंदता और कुचलता हुआ। मेरे लिए कोई रोक-टोक नहीं है। और दुनियाँ में अन्य ये मनुष्य कीड़े-मकोड़े हैं, चाहूँ इन्हें जीवित रहने दूँ चाहूँ इन्हें कुचल दूँ। इनका जीवन मेरी इच्छा पर निर्भर है। मेरी इच्छा से ही ये जीवित हैं—और मेरी इच्छा हो तो इसी क्षण में इन्हें मौत की गोदी में सुला सकता हूँ—पूरी तौर से मेरी इच्छा पर निर्भर !

तो, जब राजा का चिन्तन, मनन और विचार इस प्रकार के हो जाते हैं तो दैत्यों और राक्षसों का युग प्रारम्भ हो जाता है। और थोड़े दिनों के बाद ही फिर इस युग का प्रत्येक मनुष्य यही सोचने लगता है कि संसार में जो कुछ भी सुन्दर है,

में उसका स्वामी हूँ। वह वस्तु केवल मेरी है। मैं श्रेष्ठ हूँ और मेरा सब पर अधिकार है। मैं चाहे कुछ भी करूँ, मगर अन्य सभी मेरे विचारों के अनुरूप करें। अगर नहीं करेंगे तो मैं इन्हें कुचल दूँगा। मैं इन्हें समाप्त कर दूँगा।

तो, इस प्रकार इन दानवों, इन राक्षसों के युग में, अन्य प्राणियों के मनों में त्रास का कंपन पैदा हो जाता है—और अक्सर देखने मे आता है कि ब्राह्मणों में ब्राह्मणत्व, क्षत्रियों में क्षत्रियत्व और वैश्यो में से वैश्यत्व समाप्त प्रायः हो जाता है। स्त्रियों का सतीत्व और पुरुषों का स्वाभिमान अज्ञान की अँधेरी गलियों में ठोकरें खाता फिरा करता है। सभी के चारित्र की पवित्रता नष्ट हो-जाती है। क़ौमो का अस्तित्व मिट जाता है।

मगर बहुत वर्षों के बाद युग फिर करवट लेता है—और जब वह करवट लेता है तो यह निकम्मी और राक्षसी विचार-धारा समाप्त हो जाती है। तो करवट के बाद वाले युग का मनुष्य फिर यही सोचता है कि जैसा जीवित रहने का हक़ मुझे मिला है, वैसा ही हक़ दूसरों को भी मिला है। और जब मनुष्य के मन में यह चेतना जागती है कि मैं इस संसार में आया हूँ तो मरने के लिए ही नहीं आया हूँ—अगर मैंने जन्म लिया है तो मरने के लिए ही जन्म नहीं लिया है। जीवन की पुस्तक में जन्म और मरण के केवल दो ही पन्ने नहीं हैं; बल्कि इन दोनों पन्नों के बीच में जीवन के भी अनेक पन्ने हैं—तो, फिर वह सोचता है कि जीवन के ये पन्ने बहुत महत्वपूर्ण हैं। और इस प्रकार जब जीवन का महत्व

उसकी समझ में आ-जाता है तो फिर वह जीवन के इन पन्नों पर जीवन को जीवित रखने का सन्देश लिखता है। अपने सत्कर्मों को लिपिबद्ध करता चला जाता है। और इस प्रकार अपनी जिन्दगी को भी ऊँचा उठाता है और दूसरों की जिन्दगी को भी ! फिर वह स्वयँ भी जिन्दा रहने की कोशिश करता है और दूसरों के भी इस हक़ को स्वीकार करता है। अगर दूसरे ज्ञान के अभाव में लड़खड़ाते हैं तो वह उनको ज्ञान का प्रकाश देकर स्थिर खड़ा कर देता है—फिर दृढ़ क़दमों से जीवन-पथ पर आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता है। उनमें उत्साह और उमंग भर देता है। तो, इस प्रकार स्वयं भी ऊँचा उठता है और दूसरों को भी उठाता है।

वह किसी भी कारण से और किसी भी रूप में मनुष्यों का गिरना नहीं देख सकता। उनका पतन बर्दाश्त नहीं कर सकता। यही कारण है जो ऐसा वह व्यक्ति विश्व के प्राणियों के कल्याण के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर देता है। साधन-हीन व्यक्तियों के लिये साधन जुटा देता है। उठती हुई साहसहीन जवानियों में साहस का संचार कर देता है। उनको सत्मार्ग पर डाल देता है, जिससे उनका जीवन सत्यं, शिवं और सुन्दरम् हो जाता है और इस रूप में वह एक हजार और लाख गुना बन जाता है।

तो, ब्राह्मण अगर अपना ब्राह्मणत्व वापिस लेना चाहते हैं, क्षत्रिय फिर क्षत्रियत्व प्राप्त करना चाहते हैं और वैश्य अगर वैश्यत्व—तो, मैं कह रहा हूँ—आप अपने साहस को बटोरिये, स्वयँ भी आगे बढ़िये और दूसरों को भी आगे बढ़ाइये,

ज्ञान के आलोक में अपने जीवन के पृष्ठों को उलटिये—अज्ञान के अन्धकार में भटकना बन्द कर दीजिये। युग करवट ले-रहा है—तो; जीवन की अच्छाइयों को पहिचानने की कोशिश कीजिये। फिर, सत्य के मार्ग पर आगे बढ़िये—और अपने साथ परिवार, समाज और राष्ट्र को भी ले चलिये। जिस क़ौम में और जिस देश में ऐसे नर-पुंगव उत्पन्न हुआ करते हैं, वे क़ौम और देश निरन्तर गति-शील रहते हैं। उन्नति के पथ पर अपना प्रत्येक क़दम वे दृढ़ता और साहस के साथ उठाते हैं। तो, आनन्द-पूर्वक जीवन की मन्ज़िल को तय कर लेते हैं और अपनी क़ौम और देश का नाम अमर कर जाते हैं। ऐसे ही वीरों के कारण वे क़ौमें और वे देश संसार के रहनुमा बनते हैं और अपने नेतृत्व में संसार को भी कल्याण के पथ पर आगे बढ़ा जाते हैं। समूचे विश्व को सुख, शान्ति और आत्मा से परमात्मा बनने का पाठ पढ़ा जाते हैं। ऐसे होते हैं, वे वीर!

और ऐसे ही ये वीर स्वर्ग के अधिकारी हैं, परमात्म-पद के अधिकारी हैं। मगर जो नवयुवक अपनी जवानी को विषय-वासनाओं में फँसे रह कर ही बर्बाद कर लेते हैं, इस पिण्ड की इच्छाओं को ही पूरी करने मे दिन-रात लगे रहते हैं और आत्मा को ऊपर उठाने की बात कभी सोचते ही नहीं—तथा जो बूढ़े 'हाय-हाय' करते ही अपने जीवन के अन्तिम काल को भी यूंही बिता जाते है और आत्मा के सम्बन्ध में कुछ विचार ही नहीं करते—उनके भाग्य में तो दुर्गति ही बदी है—

सद्गति उनके लिए कहाँ ? अपार धन के बल पर संसार में रौब-दौब क़ायम किया जा-सकता है, मगर स्वर्ग प्राप्त नहीं किया जा-सकता। तो, स्वर्ग की प्राप्ति के लिए अभावों की दुहाई देने से काम नहीं चलेगा। उसको प्राप्त करने के लिए तो आत्मा को शुद्ध और सात्विक बनाना ही पड़ेगा। उस पर जो मैल चढ़ गया है, उसको धो-पोंछना ही पड़ेगा। तभी, वह अपने शुद्ध स्वरूप में दीख पड़ेगी—अन्यथा नहीं। और तभी आप स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे, परमात्मपद प्राप्त कर सकेंगे—अन्यथा नहीं। तो, पुरुषार्थ कीजिए और ज्ञानवान् बनिए। अभावों को पूरा कीजिए—आगे बढ़िये और बढ़ते ही चले जाइये। आपका लक्ष्य आपको निश्चय ही प्राप्त होगा।

स्वर्ग में स्थान आपको निश्चय ही मिलेगा—अगर आप अपने और दूसरे के जीवन का कुछ महत्त्व समझते हैं— तो ! और इस प्रकार अपना, अपने पड़ौसी का, समाज, राष्ट्र और विश्व का कल्याण कर पाते हैं—तो ! अपने और सभी के जीवन को उन्नति के पथ पर अग्रसर कर पाते हैं—तो ! अपनी परिस्थितियों पर अधिकार जमा कर अन्यों को भी इस योग्य बना पाते हैं—तो ! और इसी का नाम आत्म-दर्शन और विश्व-दर्शन है। इसी को आत्मा को शुद्ध और सात्विक बनाना कहा जाता है। और इसी भावना में अनन्त-अनन्त जीवनों की सार्थकता निहित है।

तो, जब किसी क़ौम या देश में ऐसे विशुद्ध आत्मा वाले

मानवों का बाहुल्य होता है तो वह युग देवताओं का युग कहा जाता है। तो, देवता या राक्षस कुछ आसमान से नहीं टपकते—वे तो हम में से ही बन जाते हैं। वास्तव में, जब मानव में भगवत या देवत्व का अंश विराजमान होता है, तो वह संसार में एक ऐसे युग का निर्माण कर देता है, जिसे हम देवों का युग कहते हैं और जब उसी मानव में राक्षसी वृत्तियाँ जाग उठती है तो वह राक्षसों का युग कहा जाता है। तो, संसार में देवताओं के युग को लाने के लिए हमें अपनी आत्मा में देवत्व की भावना को जागृत करना ही होगा। और देवत्व की भावना जगाने का अर्थ है, मन में विराट् भावना को जगाना और अपनी उसी भावना के अनुसार आचरण भी करना। मतलब—विचार भी वैसे ही रखना और आचरण भी वैसा ही करना। और जब मन संकुचित हो जाता है तो उसमें विचार भी संकुचित ही उठते हैं। तो, अपने इन संकुचित विचारों के कारण ही मनुष्य राक्षस बन जाता है—वह दूसरों का कल्याण करने के स्थान पर अकल्याण करने लगता है। वह दूसरों को सताने में ही सुख का अनुभव करता है और अपने ऐसे ही विचारों और आचरण के कारण संसार में राक्षसों के युग को ले आता है। राक्षसों के युग को जन्म देता है। तो, जब मानव का मन छोटा हो जाता है, क्षुद्र हो जाता है, तब राक्षस का जन्म होता है। और जब मन विराट् होता है, विशाल होता है—तब, देवता जन्म लेते हैं।

आपने वैदिक और जैन-साहित्य को पढ़ा-सुना है। इन दोनों धर्म-परम्पराओं के जीवन-निर्माण सम्बन्धी साहित्य में बहुत ही कम अन्तर है। और जो-कुछ भी अन्तर है वह केवल पन्ने उलटने का अन्तर है। किसी ने किसी विषय का पन्ना पहिले उलट लिया है और दूसरे ने बाद में—और बस! और यह बात इतिहास के विद्यार्थी की समझ में बहुत जल्दी आ-जायेगी। तो, पढ़ने को तो इतिहास का विद्यार्थी हजारों वर्षों के इतिहास को पढ़ डालता है। परन्तु वह जीवन के इतिहास को नहीं पढ़ता। वह यह जानने की कोशिश नहीं करता कि जीवन की कहानियों में से एक कैसा अनोखा प्रकाश निकल रहा है। उनमें कैसी मनभावन प्राण-वायु बह रही है। और उसके इस प्रकाश और प्राण-वायु में जीवनी-शक्ति का कैसा अद्भुत सामंजस्य स्थापित हो गया है। जिसमें जीवन की शान्ति अपना रूप सँवारे बैठी है। इसीलिए कभी-कभी मैं कहा करता हूँ कि मनुष्य के जीवन में और पशु के जीवन में बहुत अन्तर है। वास्तव में, मनुष्य का जीवन कुछ और चीज है और पशुओं का जीवन कुछ और चीज! आपने देखा है, पशु के सम्मुख जब ईख या गन्ना डाला जाता है तो वह उसे चूसता नहीं, खा-जाता है। और इस तरह वह उसके रस को भी पेट के भीतर रख लेता है और उस रस की रक्षा के लिए जो छिलके हैं, उन्हें भी उदरस्थ कर लेता है—मगर इसके विपरीत जब इन्सान को गन्ना दिया जाता है—तो, वह उसे खाता नहीं, बल्कि चूसता है। और चूसने का अर्थ है कि वह

मानवों का बाहुल्य होता है तो वह युग देवताओं का युग कहा जाता है। तो, देवता या राक्षस कुछ आसमान से नहीं टपकते—वे तो हम में से ही बन जाते हैं। वास्तव में, जब मानव में भगवत या देवत्व का अंश विराजमान होता है, तो वह संसार में एक ऐसे युग का निर्माण कर देता है, जिसे हम देवों का युग कहते हैं और जब उसी मानव में राक्षसी वृत्तियाँ जाग उठती हैं तो वह राक्षसों का युग कहा जाता है। तो, संसार में देवताओं के युग को लाने के लिए हमे अपनी आत्मा में देवत्व की भावना को जागृत करना ही होगा। और देवत्व की भावना जगाने का अर्थ है, मन में विराट् भावना को जगाना और अपनी उसी भावना के अनुसार आचरण भी करना। मतलब—विचार भी वैसे ही रखना और आचरण भी वैसा ही करना। और जब मन संकुचित हो जाता है तो उसमें विचार भी संकुचित ही उठते हैं। तो, अपने इन संकुचित विचारों के कारण ही मनुष्य राक्षस बन जाता है—वह दूसरों का कल्याण करने के स्थान पर अकल्याण करने लगता है। वह दूसरों को सताने में ही सुख का अनुभव करता है और अपने ऐसे ही विचारों और आचरण के कारण संसार में राक्षसों के युग को ले आता है। राक्षसों के युग को जन्म देता है। तो, जब मानव का मन छोटा हो जाता है, क्षुद्र हो जाता है, तब राक्षस का जन्म होता है। और जब मन विराट् होता है, विशाल होता है—तब, देवता जन्म लेते हैं।

आपने वैदिक और जैन-साहित्य को पढ़ा-सुना है। इन दोनों धर्म-परम्पराओं के जीवन-निर्माण सम्बन्धी साहित्य में बहुत ही कम अन्तर है। और जो-कुछ भी अन्तर है वह केवल पन्ने उलटने का अन्तर है। किसी ने किसी विषय का पन्ना पहिले उलट लिया है और दूसरे ने बाद में—और बस ! और यह बात इतिहास के विद्यार्थी की समझ में बहुत जल्दी आ-जायेगी। तो, पढ़ने को तो इतिहास का विद्यार्थी हजारों वर्षों के इतिहास को पढ़ डालता है। परन्तु वह जीवन के इतिहास को नहीं पढ़ता। वह यह जानने की कोशिश नहीं करता कि जीवन की कहानियों में से एक कैसा अनोखा प्रकाश निकल रहा है। उनमें कैसी मनभावन प्राण-वायु बह रही है। और उसके इस प्रकाश और प्राण-वायु में जीवनी-शक्ति का कैसा अद्भुत सामंजस्य स्थापित हो गया है। जिसमें जीवन की शान्ति अपना रूप सँवारे बैठी है। इसीलिए कभी-कभी मैं कहा करता हूँ कि मनुष्य के जीवन में और पशु के जीवन में बहुत अन्तर है। वास्तव में, मनुष्य का जीवन कुछ और चीज है और पशुओं का जीवन कुछ और चीज ! आपने देखा है, पशु के सम्मुख जब ईख या गन्ना डाला जाता है तो वह उसे चूसता नहीं, खा-जाता है। और इस तरह वह उसके रस को भी पेट के भीतर रख लेता है, और उस रस की रक्षा के लिए जो छिलके हैं, उन्हें भी उदरस्थ कर लेता है—मगर इसके विपरीत जब इन्सान को गन्ना दिया जाता है—तो, वह उसे खाता नहीं, बल्कि चूसता है। और चूसने का अर्थ है कि वह

उसके रस को तो अपने पेट में पहुँचा देता है और छिलकों को बाहर ही फेंक देता है। तो, उसके रस में तो वह अमृतमयी अनुभूति का अनुभव करता है और छिलकों को इस योग्य न पाकर वह उन्हें थूक देता है। तो, धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन के समय भी मनुष्य को अपने इसी विवेक से काम लेना चाहिए। इतिहास के पन्नों को उलटते समय भी अपनी इसी बुद्धि को उपयोग मे लाना चाहिए। अगर वह ऐसा करेगा तो उसमें निहित प्रत्येक विचार का प्रथक-करण करता हुआ वह जीवन से युक्त उसके रस को तो ग्रहण कर लेगा और उस रस की रक्षा के लिए जो वाह्य विधि-विधान रूपी छिलके दिये हुए हैं, उन्हें वह छोड़ देगा। तो, शास्त्रों को खाना मत सीखिये, उन्हें चूसना ही अधिक लाभकारी है।

मगर देखने में अक्सर यही आता है कि मनुष्य धर्म-शास्त्रों को चूसते नहीं; वल्कि उन्हे खाते हैं। और खाते हैं तो अनेक सड़े गले क्रियाकाण्ड भी उनके गले के पार उतर जाते हैं—जिससे अमृत-जैसा वह रस भी उनको जीवनी-शक्ति प्रदान नहीं कर पाता। वे फिर, अपना समूचा जीवन उन क्रिया-काण्डों में फँसे रहकर ही समाप्त कर देते हैं और इस तरह इन धर्म-ग्रन्थों से जो लाभ उन्हें मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाता। मगर साथ ही ऐसे विचारक भी कभी-कभी देखने में आते हैं, जो धर्म के किसी भी रहस्य पर पहिले विचार करते हैं और तब अपनी बुद्धि की सहायता से उसका प्रथककरण कर उसमें से

ग्राह्य को ग्रहण कर लेते हैं और जो ग्रहण करने योग्य नहीं है, उसे छोड़ देते हैं। तो, वास्तव में, ऐसे ही वे विचारक उस रहस्य के प्राणदायक रस को चूस लेते हैं और शब्द रूपी छिलकों को बाहर डाल देते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि रस मनुष्य के लिए है और छिलके पशुओं के लिए! तो, धर्म-शास्त्रों का अध्ययन इन्सानी दृष्टिकोण से करना सीखिये—पशुओं की भाँति उसे समूचा मत निगल जाइये। तभी, आपको उनका पूर्ण लाभ प्राप्त होगा—अन्यथा नहीं।

आप किसी कहानी को पढ़ते हैं—तो, जो भाव हैं उस कहानी में, अगर आप उन्हें ग्रहण कर लेते हैं और जो उसकी शब्दावली है, वाक्य-विन्यास है, उसे छोड़ देते हैं—तो, कहा जायेगा कि आपने उस कहानी को खाया नहीं है; बल्कि चूसा है। इन्सान के बुद्धि-बल से उसे पढ़ने की कोशिश की है; पशुओं के-से सहज-ज्ञान से उसे उसके समूचे रूप में निगल नहीं लिया है। तो, चाहे आप वैदिक साहित्य पढ़ें, चाहे जैन साहित्य—किसी भी प्रकार के साहित्य को पढ़ते समय यह ध्यान अवश्य रखिये। अगर आप यह ध्यान रखेंगे—उसके फोक को छोड़ देंगे और उसके भाव रूपी रस को पी जायेंगे—तो, यह चूसना कहलायेगा, खाना नहीं।

वैदिक साहित्य में राजा बलि और विष्णु की एक कथा आती है—और इस कथा को हम जैन-साहित्य में भी देखते हैं। कुछ थोड़े-से हेर-फेर से यह कथा दोनों ही ओर के साहित्य में

मिलती है। भगवान् विष्णु बौने के रूप में राजा बलि के सामने खड़े हैं—वैदिक साहित्य में यह कहा गया है और जैन-साहित्य में भी इस बात को इसी रूप में कहा गया है; किन्तु यहाँ इतना अन्तर है कि विष्णु कुमार नामक एक महान लब्धिधारी मुनि हैं—बलि दोनों ओर हैं। मगर दोनों ही प्रकार के साहित्य में वह बौने विष्णु कुमार अपना विराट् रूप बनाते हैं और अपने तीन पग में ही समूची पृथ्वी को नाप लेते हैं। तो, जान पड़ता है कि भारतीय चिन्तन ने चाहे कितने ही चक्कर काटे हों; किन्तु बाँबी में तो सारे साँपों को एक ही तरह से सीधा होकर ही घुसना पड़ा है। सत्य के मैदान में आकर सभी को नत-मस्तक होना पड़ा है। इसीलिए देखते हैं, बलि भी खड़ा है और विष्णु भी खड़े हैं; मगर जब वह बौने के रूप वाले विष्णु अपना विराट रूप करते हैं तो बलि की शक्ति क्षीण पड़ जाती है। वह श्री-हीन हो जाता है। तो, सत्य यह है कि प्रत्येक बौने को विराट् होना ही पड़ता है। विष्णु यदि बलि के सम्मुख खड़े हो जाते; मगर अपना विराट् रूप नहीं बनाते तो क्या अपने तीन क़दमों में समूची पृथ्वी को नाप सकते थे? और इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है कि नहीं! तो, इस कथा का सार यही है कि स्वयँ को विशाल बनाइये, विराट् बनाइये—तभी आप अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे।

कभी-कभी संसार में ऐसी शक्तियाँ सिंहासनों पर बैठ जाती हैं, जो दूसरों के वजूद को मिटा डालना और अपने अस्तित्व

को संसार में क़ायम रखना चाहा करतीं हैं। वे प्रेम, सद्भावना, मैत्री और इंसानियत को समझा भी नहीं करतीं और समझना भी नहीं चाहा करतीं—तो, उनके विपरीत क्रान्ति हो जाया करती है। लाठियें और तलवारें निकल आया करती हैं, जनता अपना विराट् रूप धारण कर लिया करती है—तो, वे शक्तियाँ फिर जनमत की अपार शक्ति के सम्मुख झुक जाया करती हैं। और आज का ज़माना भी कुछ इसी प्रकार का है। आज भी, संसार में, कुछ ऐसी शक्तियाँ सिंहासनारूढ़ हैं, जो बन्दूक, तोप, एटम-बम और उद्जन बम के सहारे स्वयँ तो जीवित रहना चाहती हैं, मगर दूसरों को मिटा डालना चाहती हैं। जो इन्सानियत की ओर एक इंच भी नहीं बढ़ना चाहती, जो विश्व-मैत्री के लिये कुछ भी नहीं करना चाहतीं—तो, उनको सोचना चाहिये कि एटम-बम और उद्जन-बम के सहारे आज तक कोई भी ताक़त संसार में टिक नहीं सकी है, तो वे स्वयं भी नहीं टिक सकेंगी। कोई भी ताक़त केवल ताक़त के सहारे न कभी राज्य कर सकी है और न कर ही सकेगी। पुराने ज़माने में भी वे मिटी हैं या झुकी हैं और अब भी वे मिटेंगी या झुकेंगी।

तो, बहुत दिनों तक राज्य संसार में उन्हीं ताक़तों ने किया है, जो अपने हृदय में प्रेम को बसाकर सिंहासनों पर बैठी हैं, जो सद्भावना को अपने हृदय में जगाकर सिंहासनारूढ़ रही हैं। वास्तव में, प्रेम और मैत्री की भावना की शक्ति के सम्मुख एटम बम और उद्जन बम की शक्ति नगण्य है, बेकार और निकम्मी

है। अहिंसा और सत्य के बल के सामने शस्त्र-बल फीका पड़ जाता है, निष्प्राण हो जाता है। विष्णु ने किसी भी शस्त्र का सहारा नहीं लिया और राजा बलि को परास्त कर दिया। तो, इस संसार में सर्वदा विष्णु ही जीते हैं और विष्णु ही जीतेंगे भी। तो, अगर संसार में एक बार फिर ज्ञान के सूर्य को उदय हुआ देखना चाहते हैं—तो, आप विष्णु बनिये। जीवन में अगर आप विराट् भावना को जगा लेंगे, अपने जीवन के अस्तित्व को अगर संसार-भर के प्राणियों में व्याप्त कर लेंगे, संसार-भर के दुःख में दुख और उसके सुख में सुख अनुभव करेंगे—तो, आप में विष्णुत्व जागृत हो जायेगा। भगवत् अंश उत्पन्न हो जायेगा। तो, एक बार आपको सच्चे मन से केवल इतना सोचना है कि आपकी शक्ति विस्तृत हो रही है या ममता के तंग दायरे में पड़ी हुई सिसक रही है। और जहाँ आपने अपनी शक्ति के इस रहस्य को समझ लिया—और आप इस ओर बढ़ गये तो स्वार्थों के घेरे को तोड़ कर आप स्वतन्त्र हो गये। आपने स्वयँ में परमात्म-भाव को जागृत कर लिया। और तब आप भी विष्णु की भाँति ज्ञान, भक्ति और कर्म के तीन क़दमों से इस पृथ्वी को नाप डालेंगे। और विष्णु के तीसरे क़दम के समान आपका भी तीसरा क़दम उठा ही रह जायगा—कोई जगह ही बाकी नहीं बचेगी, जहाँ आप अपने उस तीसरे क़दम को रख भी सकें। तो, जब श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र मिलकर एक हो जाते हैं तो संसार का ऐश्वर्य, तीन भुवन का ऐश्वर्य दो ही क़दमों में नाप लिया जाता है और

तीसरा क़दम तो उठा ही रह जाता है।

तो, आज रक्षा-बन्धन के इस पवित्र अवसर पर आपको संकल्प करना है कि आप अपने ज्ञान, अपनी भक्ति और कर्म को एक बनाएँगे। और तब तीनों भुवनों के ऐश्वर्य को सद्भावना और प्रेम के आधार पर नाप डालेंगे। आप अपने और अन्य सभी के जीवन को आनन्दमय और मंगलमय बनायेंगे। शस्त्रों के बल पर आप कुछ भी नहीं करेंगे, बल्कि शान्ति की पवित्र सलिला में स्वयँ भी स्नान करेंगे और समूचे संसार को भी करायेंगे।

आज रक्षा-बन्धन का दिन है—रक्षा करने का दिन ! तो, मैं सोच रहा हूँ—जब भारतवासी हज़ारों वर्षों से इस त्यौहार को मनाते चले आ रहे हैं—अपनी, अपने परिवार, पड़ौसी, समाज, देश और विश्व की रक्षा को इतना महत्व प्रदान करते चले आ रहे हैं—तो, आज उनके पड़ौस, उनके देश में ही अरक्षित भाई-बहिन क्यों दिखलाई पड़ रहे हैं। और इन हज़ारों-लाखों भाई-बहिनों को अरक्षित अवस्था में देखकर सहसा मेरे मन में एक प्रश्न आकर अटक जाता है—क्या भारतवासी इस पवित्र पर्व के महत्व को बिल्कुल ही भूल गये हैं—और इस प्रश्न के उत्तर में मेरी बुद्धि यही कहती है—हाँ, यही बात है। अब वे केवल इसकी लकीर को पीटते हैं और इसके महत्व को बिल्कुल भूल गये हैं। और इस बात के ध्यान में आते ही समूचे भारतवर्ष का सहस्त्रों वर्षों का इतिहास मेरे मस्तिष्क में घूम जाता है। आप राजस्थान के इतिहास को ही ले लीजिये—रक्षा के निमित्त से

बहिन द्वारा भेजे गये दो धागे का इतिहास यहाँ के रेत का कण-कण आपसे कहेगा। जब कभी भी हमारी बहिनों पर आपत्ति के बादल मंडराये, उनके स्वाभिमान और सतीत्व पर चोट पड़ने की आशंका हुई—और उन पर मुसीबत ढाने वाली बड़ी शक्ति के सम्मुख उस बहिन के परिवार की तलवार निकम्मी साबित हुई—तो, ऐसी उन बहिनों के दो धागे, सांसारिक दृष्टि से अपरिचित किसी भी भाई के पास पहुँचे और वह भाई अपनी उस अपरिचित बहिन की रक्षा करने के लिए दौड़ पड़ा। उस समय उस भाई ने अपने सुख की चिन्ता न की, अपने जीवन की भी फ़िक्र न की और अपने जीवन तक को होम कर उस बहिन की रक्षा की। एक-दो नहीं, ऐसे सैंकड़ों उदाहरण आपको इस राजस्थान के इतिहास में मिल जायेंगे। इस देश में ऐसे अनेक भाई उत्पन्न हुये, जिन्होंने अपने सिंहासन की चिन्ता नहीं की और बड़ी से बड़ी क़ीमत देकर मुसीबत में फँसी उस बहिन की रक्षा की। बहिन की शान्ति, उसके गौरव को क़ायम रक्खा। अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया, मगर उस बहिन के मान पर आँच न आने दी।

तो, आज का यह त्यौहार केवल खीर खाकर मनाने का नहीं है—या पंडितजी को दो पैसे देकर कलाई में धागे बँधवा लेने का नहीं है। इसके विपरीत आज का यह पर्व ऊँचे संकल्पों को, ऊंचे आदर्शों को हृदय में बसाने का है। विश्व के असहाय भाई-बहिनों की रक्षा करने का है। ज़रा भारतवर्ष के इतिहास के

पन्ने पलट कर देखिये तो सही, मेरी बात आपकी समझ में भली प्रकार से आ-जायेगी । इतिहास के ये पन्ने आपसे वही बात कहेंगे, जो मैं आपसे कह रहा हूँ। इतिहास के पन्ने-पन्ने पर इन दो धागो की कथा लिपिबद्ध हुई पड़ी है। इन दो धागों के लिये हमारे अनेक पूर्वजों ने अपने जीवन की आहुतियाँ दे दी हैं—और अपने शरीर की अन्तिम खून की बूँद बहने तक बहिनों के मान की रक्षा की है।

कर्मावती रानी की कथा को कौन नहीं जानता। इन दो धागों की बदौलत ही बादशाह हुमायू अपनी वंग-देश की विजय को छोड़ कर इस रानी की रक्षा के लिये दौड़ा चला आया था। जब हुमायू को ये धागे मिले, उस समय वह बंग-भूमि के लिये निर्णायक युद्ध में संलग्न था और विजय-श्री उसके सम्मुख खड़ी थी; मगर उसने इस बात की बिल्कुल भी परवाह न की—वह अपनी विशाल फ़ौज को लेकर तुरन्त ही वहाँ से चल पड़ा और राजस्थान की भूमि पर पैर रखते ही अपनी जाति के एक भाई से ही भिड़ गया—क्योंकि वह भाई रानी के सतीत्त्व को लूटना चाहता था, इस बहिन के मान को भंग करना चाहता था—और विराट मन वाला बादशाह हुमायू इस बात को सह न सका। इस बहिन का अपमान उसे बर्दाश्त न हुआ और उसने खून की नदियाँ बहा दीं। बहुत बड़ी क़ीमत देकर इस बहिन के मान की रक्षा की।

तो, यह त्यौहार मन में विराट भावनाओं को जगाने का त्यौहार है। आप हिन्दू हों, मुसलमान हों, कोई भी क्यों न हों—

ऊँचे संकल्प इस बात को नहीं देखते । वे तो उसी के मन में प्रवेश कर जाते हैं, जो उनका आह्वाहन करता है । जो, उनको अपने मन में आदर के साथ स्थान देता है । और तब उस ऐसे उच्च संकल्पों वाले मनुष्य के हृदय में से हिन्दू-मुसलमान की भावना निकल जाती है । वह तो अपने उच्चादर्शों की चिन्ता करता है-हिन्दू और मुसलमान की नहीं । यही कारण है, जो हुमायू आज भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है । उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है ।

कुछ स्वार्थी लोग जरूर उसे बदनाम करते हैं और वे कहते हैं-कि वह मक्कार था, इसीलिए वह इस बहाने के सहारे दौड़ा चला आया और इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि क्या यह स्वप्न में भी सम्भव है कि एक मुसलमान हिन्दू नारियों को रक्षा के लिये इतना बड़ा त्याग करे । अपनी ही जाति के भाइयों का रक्त बहाये ! तो उनके इस तर्क के उत्तर में मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि ये स्वार्थी भाई इन्सानियत नाम की वस्तु से बहुत दूर हैं । उन्होंने शायद कभी मानवता के दर्शन ही नहीं किये हैं । और यह मानवता कोई एक मनुष्य या किसी एक क़ौम की बपौती नहीं हुआ करती । वह तो सबकी है । वह तो उसकी है, जो उसको सम्मान के साथ अपने हृदय में विराजमान करता है-फिर, चाहे वह हिन्दू हो, चाहे मुसलमान ! तो, जिसके जीवन में मानवता की महक महक रही है, इन्सानियत अपना स्थान बना बैठी है, वह हिन्दू-मुसलमान जैसी तुच्छ भावनाओं

से बहुत ऊपर उठा हुआ है। फिर, ऐसे उस व्यक्ति के मन में ईर्षा या द्वेष का क्या काम ? और होता भी नहीं है।

एक बार एक सज्जन मिले-आज की दृष्टि से ऊँचे पढ़े-लिखे—और योंही उनसे भगवान् महावीर के विषय में बात-चीत चल पड़ी। तो, खटाक से उन्होंने मुझसे प्रश्न किया—क्या आप को मालूम है कि भगवान् महावीर साधु क्यों बने ? और मैं बोला—मुझे तो मालूम है; मगर इस सम्बन्ध में आपके मन में क्या है—उसे कह डालिये। तो, वह कहने लगे—भगवान महावीर दो भाई थे—तो, अन्दाज होता है कि सिंहासन के लिये वे दोनों भाई आपस में जरूर लड़े होंगे; मगर भगवान् महावीर ने यह सोचकर कि सिंहासन तो बड़े को ही मिलेगा और मैं छोटा हूँ—तो, मुझे तो कुछ मिलेगा नहीं, राज्य को छोड़ दिया होगा।

और उन सज्जन की इस बात को सुनकर मैं बोला—आप का मस्तिष्क अभी तक इन्सान के ढाँचे की ओर ही लगा है, इसीलिये तो आप यह कूड़ा-कर्कट बटोर लाये। आपने अभी तक इस ढाँचे में निवास करने वाली आत्मा के दर्शन नहीं किये हैं, तभी तो इस तरह बहक रहे हैं—आप ! तो, इन्सान की इन्सानियत को जानने का भी आप यत्न कीजिये, तभी आपकी समझ में यह आ-सकेगा कि भगवान् महावीर साधु क्यों बने ? इन्सान के पिण्ड को न देखिये, उसकी आत्मा को देखिये। अगर आप उसकी आत्मा को देख सके तो आपका यह पढ़ना-लिखना भी सार्थक हो जाएगा। इन्सान की आत्मा उसके इस

शरीर से बहुत ऊँची है।

और संसार के इतिहास का निर्माण केवल स्वार्थियों ने ही नहीं किया है। प्रत्येक काल में ऐसी भी आत्माएँ चमकती रही हैं, जिन्होंने सोने के सिंहासनों को तृण के समान समझ कर त्याग दिया है। जब उनमें त्याग और तपस्या का प्रकाश उत्पन्न हुआ है तो उन्होंने संसार के सभी बन्धनों को पलक-मारते तोड़ दिया है। तो, भगवान् महावीर के दर्शन करने की इच्छा है तो राजकुमार महावीर के दर्शन मत कीजिए। इसके विपरीत अगर आपने तपस्वी महावीर के दर्शन किये तो आपको भगवान् महावीर के भी दर्शन हो-जायेंगे। और जब आप स्वयँ में इन्सानियत की नज़र को पैदा कर लेंगे तो आपको अन्य अनेक महा-पुरुषों के दर्शन भी हो जायेंगे। और आपको इन महापुरुषों के दर्शन करना भी चाहिये—इससे आपकी आत्मा का विकास होगा।

हाँ—तो, मैं अभी-अभी आप से कह रहा था कि इस पवित्र पर्व रक्षा-बन्धन में अहिंसा की भावना, दया की भावना अपना रूप सँवारे बैठी है। जो भी इस भावना को अपने हृदय में संजोता है, उसके सामने से हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न हट जाता है। तो, मैं कहना चाहता हूँ कि चन्द स्वार्थी लोगों के बहकाये में आकर भारतवर्ष के इतिहास को ज़हर के कीटाणुओं से भरने की कोशिश मत कीजिए। दैत्यों के यहाँ भी भक्तों का जन्म होता है। प्रह्लाद का जन्म हिरण्य-कश्यप जैसे राक्षस के यहाँ हुआ था। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि इस महान् पर्व के महत्त्व

को भारतवर्ष के प्रत्येक हिन्दू-मुसलमान ने स्वीकार किया था। अशरण को शरण देना तो वीर का गौरव रहा है।

तो, राखी के धागे इन्सान में इन्सानियत को जगाने के लिए रहे हैं। जब हमारे सम्मुख किसी की रक्षा करने का प्रश्न आकर खड़ा हो जाता है तो उस समय उस किसी से यह नहीं पूछा जाता कि तेरी जाति क्या है, तेरा कुल क्या है, तू कौन है? उस समय तो उसकी रक्षा ही की जाती है। तो, हिमालय की ऊँचाई और समुद्र की गहराई को नापने के लिए आप विष्णु के समान विराट् बनिये—तभी आप किसी की रक्षा कर सकेंगे। जब विष्णु बौने बने तो उनको याचना करनी पड़ी; मगर जब वह विराट् हो गये तो राजा बलि को नत-मस्तक होना पड़ा। तो, किसी की रक्षा के प्रश्न को हल करने के लिये स्वयँ में विराट भावनाओं को जगाइये। विराट् बनिए। अगर आप विराट् बनेंगे तो संसार के ऊपर छाये हुये विपत्तियों के बादलों को छिन्न-भिन्न कर देंगे।

और आज का यह पर्व और बहिन द्वारा प्रदत्त ये धागे आपसे यही कह रहे हैं कि आप विराट बनिये। तभी, संसार में सुख-शान्ति का राज्य स्थापित हो-सकेगा।

जोधपुर
२४-८-५३

भैया-दूज

आज दूज है ! दीवाली के बाद वाली दूज ! तो, आज के दिन पर जब हम विचार करते हैं और जब भारतवर्ष के पुराने इतिहास के पन्ने उलटते हैं तो ऐसा मालूम होता है, जैसे एक प्रेम का सागर हृदय में हिलोरें ले रहा है। हिलोरें ले-रहा है, तो जान पड़ता है, भारतवर्ष ने प्रेम की पूजा बहुत बड़े पैमाने पर की है। उसकी आत्माएँ सूखे और रेत से भरे हुए मैदानों में नहीं घूमती रहीं, किन्तु ठीक ढंग पर हरे-भरे जंगलों, कल-कल निनाद करते हुए झरनो से पूरित मैदानों और घाटियों में उन्होंने विचरण किया है। नन्दन-वन उनकी कल्पना में सदा विद्यमान रहे और उन्होंने उन्हें बनाया और जीवन की बाजी लगाकर उनकी रक्षा की। नन्दन-वन के झरनों ने उन आत्माओं

में जागृति के चिन्ह अंकित किये तो उन आत्माओं का जो भी क़दम उठा और उठकर आगे बढ़ा, वह हर एक क़दम जागृति और सुन्दरता के गौरव को अपने साथ लेकर चला। और जब वह जागृति और सुन्दरता के गौरव को अपने साथ लेकर चला तो वह प्रत्येक क़दम नया था और सुन्दरता के नवीन दृष्टिकोण को लेकर उठा था—तो, ऐसा जान पड़ता है, मानो, वह प्रत्येक क़दम स्वर्ग की यात्रा के लिए उठा और आगे बढ़ा था। तो, मैं समझता हूँ, भारतवर्ष की संस्कृति का बोध कराने वाला जो भी दिन है, आज का दिन, दीवाली का दिन, कल जो बीत गया वह दिन या होली का दिन, महान् है—और ऐसा मालूम होता है कि यह प्रत्येक दिन भारतवर्ष की प्रगति का दिन है। महान्-सौन्दर्य की प्राप्ति के हेतु जिस दिन भी भारतवर्ष की आत्मा ने अपना क़दम आगे बढ़ाया है, वही दिन पवित्र, महान् और गौरवशाली है—क्योंकि वह आत्मा की जागृति का दिन है, सत्य, शिव और सौन्दर्य के लिए आत्मा की यात्रा का दिन है।

और जब आज का दिन महान् है तो यही उचित जान पड़ता है कि आज के दिन पर ही मैं आपसे कुछ बातें करूँ। उसकी महत्ता की कुछ चर्चा करूँ—तो आज की बात-चीत का विषय आज का दिन मुझे ठीक मालूम होता है। आज के दिन को आपने क्या नाम दे रक्खा है, मैं नहीं जानता। उत्तर भारत में तो आज के दिन को भैया-दूज की संज्ञा देकर बोला जाता है।

इस जीवन का अधिकांश समय उस ओर ही बीता है, इसलिए उधर की शब्दावली मेरे मन और मस्तिष्क में अधिकार किये बैठी है। मगर जब समूचा भारतवर्ष ही एक है तो थोड़े-से हेर-फेर से शब्दावली भी उसकी एक ही है। मैं तो यही समझता हूँ, जब मैं उसके किसी भाग की बात करता हूँ तो समूचे भारतवर्ष की बात करता हूँ। क्योंकि जब भारतवर्ष अखंड है तो उसकी एक जगह की बात समूचे भारतवर्ष की बात है। इसी प्रकार उसमें निवास करने वाले एक सम्प्रदाय की बात भी भारतवर्ष के सभी सम्प्रदायों की बात है। और एक धर्म अथवा जाति की बात उसके प्रत्येक धर्म और जाति की बात है। मैं अभी-अभी आपसे कह रहा था, आज के दिन को भारतवासी भैया-दूज का दिन कहते हैं। और सौभाग्य का विषय है कि आज यहाँ पर भाई और बहिनें काफी संख्या में एकत्रित हैं। अपने उत्तरदायित्व को समझने के लिए और परिज्ञान करने के लिये सब भाई खुले दिल से इस व्याख्यान का आनन्द लेने के लिये आज इस महान् दिवस पर यहाँ आये हैं। तो, आज केवल भाइयों से ही नहीं; किन्तु बहिनों से भी बातें करनी हैं—क्योंकि जान पड़ता है, आज के दिन का यह नाम बहिनों ने ही रक्खा है।

मगर आज के दिन के सम्बन्ध में कुछ भी कहने से पहिले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इससे पहिले वाली बात भी आपको बतलादूँ—उस पर भी कुछ प्रकाश डाल दूँ। भारतवर्ष

में एक ओर पुरुष और दूसरी ओर नारी खड़ी है। यहाँ पर जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो उस समय के महर्षियों ने इसकी गम्भीरता को स्वीकार किया और पुरुष और नारी दोनो के जीवन-क्षेत्र का बटवारा उन्होंने अपनी देख-रेख में किया। शायद यही वह समय था, जब यहाँ पर गृहस्थाश्रम की नींव पड़ी। तो, घर का क्षेत्र नारी के बट में आया और बाहर के क्षेत्र का स्वामी पुरुष हुआ। तभी तो पुरुष के लिये जीवन का दूसरा केन्द्र घर है, केवल घर, और कोई नहीं। दिन-भर के लिये पुरुष दफ़्तर अथवा दूकान जाता है, मगर जब पूरब दिशा में उदय होने वाले सूर्य दिन-भर तप कर, पच्छिम की विरामदायिनी गोद में रात्रि-भर के लिए सो जाने का उपक्रम करने लगते हैं तो पुरुष भी झपटता हुआ-सा घर की ओर दौड़ लगाता है। घर उसके जीवन का दूसरा केन्द्र है जो! और इसी तरह का हमारा साधु समाज है। साधु भिक्षा-पात्र लेकर जब निकलता है तो घर की ओर ही चलता है। सेठ की दूकान पर वह नहीं माँग सकता। आप चाहें अपनी दूकान पर हज़ारों रुपये की मिठाई बाँट रहे हों; मगर साधु उस ओर ध्यान भी न देगा। इसी तरह चाहे आपके दफ़्तर में रोज़ ही चाय-पार्टी होती हो; लेकिन साधु वहाँ पर बिना रुके उधर से गुज़र जायेगा। वह वहाँ पर नहीं मांगेगा। वह उस ओर देखेगा भी नहीं—क्योंकि उसकी भिक्षा का आधार भी भारतवर्ष का घर है, सेठ की दूकान नहीं, दफ़्तर भी नहीं, केवल घर! फिर, घर के नाम पर चाहे गृहस्थ की झोंपड़ी हो अथवा ऊँची अट्टालिका! वहाँ, घर में

माँगने का अधिकार, साधु का तभी से अभी तक अक्षुण चला आ रहा है। उसे अभी तक किसी ने इस बात के लिये चुनौती दी भी नहीं है। अगर कोई देगा तो सोचेंगे। तब इस पर विचार करेंगे। तो, अर्थ यह है, भारतवर्ष की मूल संस्कृति का केन्द्र घर है—इसीलिये घर को स्वर्ग बताया गया है। और मूल संस्कृति का केन्द्र अथवा स्वर्ग यह घर बहिनों को सौंपा गया है। महर्षियों ने खूब सोचकर, खूब परख कर यह आपको सौंपा है। और आपसे यह कहा गया है कि यह स्वर्ग तुम्हारा है, यह घर तुम्हारा है! तुम गृह-लक्ष्मी हो! तुम इसकी मालकिन हो।

और यह 'मालकिन' शब्द अथवा इसमें निहित भाव कोई नया नहीं है। हज़ारों-लाखों वर्ष पुराना है। मगर इस समय यकायक मेरे मुँह से सुनकर कहीं बहिनों का अहंकार न जाग उठे—कहीं इस समय वह बीच में आकर न खड़ा हो जाये। अगर ऐसा हो गया तो प्रश्न को निबटाना मुश्किल हो जायेगा। मगर महर्षियों ने माना है और मैं भी मानता हूँ—नारी प्रेममयी और त्यागमयी है। तुम्हारे प्रेम और त्याग के कारण ही तो घर स्वर्ग बन जाता है। इसीलिए तो घर की संस्कृति का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व भारतीय साहित्य में बहिनों को सौंपा गया है। तुम्हें यह अधिकार दिया गया है कि तुम नव-जीवन का निर्माण करो। तुम्हारी शान्ति तुम्हारे अमृत फल होंगे। तुम्हारा प्रेम ही उन फलों का रस होगा। बुद्धि प्रकाश से ओत-प्रोत है तो तुम भूत और भविष्य पर सोच सकती हो। तो, इस संसार में

अगर तुम नारी बनकर जीवन गुजारना चाहती हो तो यह घर तुम्हारा अपना है। तुम्हारी वाणी का एक-एक शब्द इसे स्वर्ग बना देगा। अपने इस घर में बैठकर जब तुम सोचोगी, विचारोगी तो तुम्हारी मंगलमय भावनाएँ, तुम्हारे पवित्र विचार और ऊँचे संकल्प, तुम्हारा चिन्तन और मनन—सब मिलकर इस घर को स्वर्ग बना देंगे। और जब एक घर को स्वर्ग बना लोगी तो सारे संसार को स्वर्ग बना दोगी। और यह है तुम्हारा अधिकार जो बटवारे में महर्षियों के द्वारा तुम्हें मिला है।

मगर जब उन महर्षियों के सामने पुरुष का प्रश्न आया तो उनसे उन्होंने कहा—तुम मैदानों में काम करो। अपने मस्तिष्क को खुला रख कर काम करो। यह ससार क्रीड़ास्थल है। यहाँ पर ऐसा कोई भी पहाड़ तुम्हारे सामने नहीं खड़ा है, जिसको तुम लाँघ नहीं सकते। यह सारी पृथ्वी तुम्हारी है और तुम पृथ्वी के हो। सारे भूमंडल में तुम विचरण करो। यह तुम्हारा अधिकार है। मगर अपने इस अधिकार को भोगते हुये जहाँ कहीं भी तुम रहो, सब जगह अपने घर की संस्कृति और परिवार को याद रक्खो। फिर, सारे विश्व को भी परिवार के रूप में याद रक्खो। कोई काम करो तो बड़े और छोटे दोनों परिवारों के लिए करो। तुम्हारा एक बाजू विश्व के कल्याण के निमित्त काम करने के लिये है और दूसरा घर के कल्याण के लिए! कमाओ। दुनिया भर में कमाओ। किन्तु घर को याद रक्खो। कमाओ तो न्याय को याद रक्खो।

न्याय-नीति बर्तते हुए अपने हाथ-पैर और मस्तिष्क से काम लो ! जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़ो तो हँसते हुए आगे बढ़ो।

किन्तु इस प्रकार जो-कुछ भी प्राप्त करो वह गृह-स्वामिनी को अर्पण कर दो। वह घर की शान्ति और व्यवस्था को क़ायम रखने में काम आयेगा। उसे बाहर ही खा-पीकर उड़ा देने का अधिकार तुमको नहीं है। घर में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए वह सब-कुछ जो तुम अर्जन करते हो गृहस्वामिनी के सम्मुख रख दो। यही तुम्हारा अधिकार है।

बहिनों और भाइयों को यह बटवारा पसन्द आया होगा। यह मैंने नहीं किया है। इस बटवारे को इस प्रकार सैकड़ों और हजारों ऋषियों और महर्षियों ने किया है। इसलिए इसे चुनौती देने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। स्त्री और पुरुष इस समाज रूपी रथ के दो चक्र हैं, पहिए हैं। एक पहिया यदि ठीक है, सुरक्षित है और दूसरा कमजोर और दुर्बल है। अज्ञानी है। तो, वह एक-एक रोढ़े से टकरा-टकरा कर छिन्न-भिन्न होता जा-रहा है तो क्या गाड़ी अपने ठीक लक्ष्य पर पहुँच सकेगी ? या बीच में ही धोखा देगी ! आपने यदि सारी शक्ति एक पहिए की मजबूती के लिए ही लगा दी है और दूसरे पहिए को सुरक्षित नहीं रक्खा है, मजबूत नहीं बनाया है। यदि वह एक-सा बलवान और ठीक पहिले-जैसे पहिए के क़द का नहीं है तो वह गाड़ी ठीक काम नहीं कर सकती।

मैं कह रहा हूँ, पक्षी आकाश में उड़ता है, उड़ान भरता है।

वह एक जगह से उड़ना शुरू कर, धीरे-धीरे अपने पंख फड़-फड़ाता हुआ, अनन्त आकाश की ओर विचरण करता है; किन्तु उसका एक पंख मजबूत है और दूसरा नहीं तो क्या वह उड़ सकता है कभी नहीं। सम्भव है, वह उड़ान भरने का साहस ही न करेगा और यदि करेगा तो उसकी उड़ान पूरी नहीं होगी। तो, मैं सोचता हूँ, वह गिरकर चकनाचूर हो जायेगा। उसकी उड़ान दो एक से मजबूत पंखों के द्वारा ही सम्भव है।

और यह परिवार, घर, देश और राष्ट्र की गाड़ी है, जिस को हम मंजिल पर पहुँचाने के लिए आगे बढ़ा रहे हैं। इस गाडी का एक पहिया नर है और दूसरा नारी! यदि इस गाड़ी के दोनों पहिये मजबूत हैं, सुरक्षित हैं, बलवान हैं—तो, गाड़ी यात्रा-पथ पर ठीक-ठीक चली जायेगी। यदि पुरुष का पहिया मजबूत है और नारी का पहिया दुर्बल है तो गाडी ठीक नहीं चल सकेगी। और यदि पुरुष का पहिया काम नहीं दे रहा है और नारी का पहिया मजबूत है तो भी गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकेगी।

मान लो, मनुष्य पक्षी है और उन्नति की इच्छा से फड़-फड़ाने के लिए तैयार है। किन्तु हम देखते हैं, उसकी ऊँची उड़ान नहीं हो रही है? तो, विचार कर देखने पर पता चलता है कि उसके एक पंख में कमजोरी है। इसीलिये वह उड़ान भर-सकने में असमर्थ है। तो, उसके दोनों पंखों का ठीक और मजबूत होना जरूरी है।

आज का भारतवर्ष हजार-हजार वेदनाएँ लेकर उड़ान के

न्याय-नीति बर्तते हुए अपने हाथ-पैर और मस्तिष्क से काम लो ! जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़ो तो हँसते हुए आगे बढ़ो।

किन्तु इस प्रकार जो-कुछ भी प्राप्त करो वह गृह-स्वामिनी को अर्पण कर दो। वह घर की शान्ति और व्यवस्था को क़ायम रखने मे काम आयेगा। उसे बाहर ही खा-पीकर उड़ा देने का अधिकार तुमको नहीं है। घर में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए वह सब-कुछ जो तुम अर्जन करते हो गृहस्वामिनी के सम्मुख रख दो। यही तुम्हारा अधिकार है।

बहिनो और भाइयों को यह बटवारा पसन्द आया होगा। यह मैंने नहीं किया है। इस बटवारे को इस प्रकार सैकड़ों और हज़ारों ऋषियों और महर्षियों ने किया है। इसलिए इसे चुनौती देने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। स्त्री और पुरुष इस समाज रूपी रथ के दो चक्र हैं, पहिए हैं। एक पहिया यदि ठीक है, सुरक्षित है और दूसरा कमज़ोर ओर दुर्बल है। अज्ञानी है। तो, वह एक-एक रोढ़े से टकरा-टकरा कर छिन्न-भिन्न होता जा-रहा है तो क्या गाड़ी अपने ठीक लक्ष्य पर पहुँच सकेगी ? या बीच में ही धोखा देगी ! आपने यदि सारी शक्ति एक पहिए की मजबूती के लिए ही लगा दी है और दूसरे पहिए को सुरक्षित नहीं रक्खा है, मज़बूत नहीं बनाया है। यदि वह एक-सा बलवान और ठीक पहिले-जैसे पहिए के क़द का नहीं है तो वह गाड़ी ठीक काम नहीं कर सकती।

मैं कह रहा हूँ, पक्षी आकाश में उड़ता है, उड़ान भरता है।

वह एक जगह से उड़ना शुरू कर, धीरे-धीरे अपने पंख फड़-फड़ाता हुआ, अनन्त आकाश की ओर विचरण करता है; किन्तु उसका एक पंख मजबूत है और दूसरा नहीं तो क्या वह उड़ सकता है कभी नहीं। सम्भव है, वह उड़ान भरने का साहस ही न करेगा और यदि करेगा तो उसकी उड़ान पूरी नहीं होगी। तो, मैं सोचता हूँ, वह गिरकर चकनाचूर हो जायेगा। उसकी उड़ान दो एक से मजबूत पंखों के द्वारा ही सम्भव है।

और यह परिवार, घर, देश और राष्ट्र की गाड़ी है, जिस को हम मंजिल पर पहुँचाने के लिए आगे बढ़ा रहे हैं। इस गाड़ी का एक पहिया नर है और दूसरा नारी! यदि इस गाड़ी के दोनों पहिये मजबूत हैं, सुरक्षित हैं, बलवान हैं—तो, गाड़ी यात्रा-पथ पर ठीक-ठीक चली जायेगी। यदि पुरुष का पहिया मजबूत है और नारी का पहिया दुर्बल है तो गाड़ी ठीक नहीं चल सकेगी। और यदि पुरुष का पहिया काम नहीं दे रहा है और नारी का पहिया मजबूत है तो भी गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकेगी।

मान लो, मनुष्य पक्षी है और उन्नति की इच्छा से फड़-फड़ाने के लिए तैयार है। किन्तु हम देखते हैं, उसकी ऊँची उड़ान नहीं हो रही है? तो, विचार कर देखने पर पता चलता है कि उसके एक पंख में कमजोरी है। इसीलिये वह उड़ान भर-सकने में असमर्थ है। तो, उसके दोनों पंखों का ठीक और मजबूत होना जरूरी है।

आज का भारतवर्ष हजार-हजार वेदनाएँ लेकर उड़ान के

लिये छटपटा रहा है—मगर वह उड़ने में असमर्थ है। प्रश्न होता है—क्यों ? तो, सोचना पड़ता है, पुरुष वर्ग को जितने भी अधिकार मिले हैं उसने उनका क्या उपयोग किया है ? समाज और बच्चों के संरक्षण के लिये कितना और क्या काम किया है ? आज भी वह दफ़्तरों और दूकान पर काम करता है। समाज के प्रत्येक रंग-मंच पर काम करता है, मगर उसका वह काम घर और समाज के लिये कितना उपयोगी है—इसका उसे जवाब देना ही होगा।

भारतवर्ष में नारी का स्थान एक दिन बहुत ऊँचा रहा है। उन्होंने उन दिनों बहुत ही महत्वपूर्ण काम किया है। इसीलिये एक दिन भारतवर्ष की नारियाँ लक्ष्मी कहलाईं और वे घर के स्वर्ग की रानियाँ बन कर रहीं। विवाह के समय मन्त्रों में भी यह बात कही गई—'सम्राज्ञो भव' तू अपने घर की सम्राज्ञी, राजरानी बनकर रह। ठीक ढंग से काम कर और अपने घर को स्वर्ग बना। तो, नारी को भी इस प्रकार के अधिकार मिले और उसने उनका उपयोग भी किया।

मगर ये हज़ारों वर्ष ऐसे निकल गये, जो बहिनों के लिये अभिशाप या अंधकार के दिन कहे जा-सकते हैं। मानों, इन हज़ारों वर्षों तक बहिनों ने अंधकार में से यात्रा की है। उनको जो अधिकार प्राप्त थे, उनको उन्होंने भुला दिया अथवा उनका उपयोग ही न किया। अपनी योग्यता भी वे भूल गईं। अपनी योग्यता को वे भूल गईं तो अज्ञान के गहरे अंधकार में गिर पड़ीं

तो, बलवान शरीर के एक अंग को यदि लकवा मार गया है तो उसका दूसरा अंग भी ठीक-ठीक काम नहीं करेगा। तो, वह बलवान शरीर इस प्रकार बेकार हो जायेगा।

आज भैया-दूज का दिन है तो इस महान् दिवस पर बहिनों को सोचना होगा। मनन करना होगा। जब एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व उन पर है तो उसको निभाना उनका एक पवित्र कर्त्तव्य है। तो, अपने घर के प्रति उन्हें जागरूक बनना चाहिये। उन्हें सोचना चाहिये—वह अपने घर को स्वर्ग बना रही हैं या नर्क। अपने उस घर में आग लगा रही हैं या प्रेम की वर्षा कर रही हैं। उनके द्वारा उस घर में नव-निर्माण हो रहा है या ध्वंस का कार्य। अगर बहिनें इन बातों को सोच-सकने की योग्यता रखती है—सोच सकती हैं तो भारतवर्ष में चाहे कितनी भी दरिद्रता क्यों न हो, वह चाहे कितना भी ग़रीब क्यों न हो गया हो, दुख की आग में क्यों न जल रहा हो, एक बार फिर धन-धान्य से पूर्ण और प्रेम से ओत-प्रोत हो जायेगा। अगर घर में बहिनें आनन्द और प्रेम की मूर्ति बनकर रहें और यह आनन्द और प्रेम केवल अपने घर तक ही महदूद न हो, दो-चार बच्चों या नाते-रिश्तेदारों तक ही सीमित न हो, किन्तु इसके विपरीत इस सम्बन्ध में उनका हृदय विशाल हो; विराट हो—तो वे निश्चय ही अपने पड़ौसी, मोहल्ले, नगर और देश-वासियों को सुखी और सानन्द बना सकती हैं। उन्हें भी ऊँचा उठा सकती हैं। अपने प्रेम-व्यवहार के द्वारा उनका भी कल्याण कर सकती हैं।

तो, आज का दिन हमसे कहता है—एक तरफ बहिनें हैं और एक तरफ़ भाई ! और दोनों ही एक परिवार में से जन्म लेकर आये हैं। कार्य-क्षेत्र एक का कहीं और दूसरे का कहीं और रह गया है। बहिन को विवाह के रूप में और कहीं खड़ा कर दिया है और भाई को कहीं और ! तो, समाज के क़ानून ने चाहे दोनों को हज़ारों मील की दूरी पर खड़ा क्यों न कर दिया हो ; मगर प्रकृति ने दोनों को एक महत्वपूर्ण शक्ति प्रदान की है। दोनों भाई-बहिनों के रूप में एक दूसरे से बँधे हुए हैं। इस रूप में उन दोनों का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। जब एक ही माता के पास रहकर दोनों ने अपने प्रारम्भिक जीवन की मंज़िल को तय किया है तो ये सुन्दर स्मृतियाँ इतनी सुखद और महत्वपूर्ण हैं कि संसार की कोई भी शक्ति उनके सम्बन्ध को तोड़ नहीं सकती। उनके प्रेम में अन्तर नहीं डाल सकती।

और जब तक भारतवर्ष में भाई-बहिनों के बीच यह चीज़ बनी रहेगी। भैया-दूज का यह दिन भाई-बहिन के प्रेम का ढिंढोरा पीटता रहेगा, उनके प्रेम की ज्योति को जगमगाता रहेगा। तबतक भारतवर्ष के दुर्दिन भी सुदिन ही बने रहेंगे। इस रूप में भी अगर भारतवर्ष की संस्कृति जीवित है तो ये दुर्दिन एक दिन निश्चय ही सुदिन बन जायेंगे। जब बहिन का प्रेम अटूट है तो चाहे भाई कितना ही भी ग़रीब क्यों न हो जाये, दाने-दाने के लिए मोहताज क्यो न हो जाये, उसका अपने भाई के प्रति वह प्रेम अटूट ही बना रहेगा। अगर कोई

बहिन भाई को गरीब और अमीर के रूप में आंकती है तो मैं कहूँगा कि उस बहिन के सोचने और विचारने का ढंग बहिन जैसा नहीं है। सच्चे अर्थों में सच्ची बहिन वही है जो भाई को भाई समझ कर ही जानती है। अपने इस विचार को, इस विश्वास को गरीब और अमीर के प्रकाश में देखने का प्रयत्न नहीं करती है। पैसों के बांटों से भाई को नहीं तोलती है।

किसी भी बहिन का यह सोचना कि भाई के यहाँ से अमुक समय अथवा दिन पर मिठाई और ज़ेवरों से भरे हुये थाल आये हैं या नहीं—निरर्थक और भ्रममूलक है। इस विचार के द्वारा वास्तव में वह अपना बहिनपना ख़त्म कर रही है। बहिन का पद समाप्त कर रही है। वास्तव में, इसी पद को स्थापित करके बुद्धिजीवी मनुष्य ने अपनी सर्वोपरि नैतिकता का परिचय दिया है। स्वयं को जीवन की अच्छाइयों की ओर उन्मुख किया है। अपने चरित्र की महत्ता को क़ायम किया है। तो, जब वह इतना गौरवशाली है तो किसी भी बहिन को यह सोचकर उसके गौरव को नष्ट नहीं करना चाहिए। उस ऊँचे और गौरवशाली पद से, जहाँ बहिन खड़ी है, स्वयँ को स्वयँ की ही निम्न भावना से, नीचे नहीं उतार लेना चाहिए। पद-च्युत नहीं कर लेना चाहिये। जब अपने इस गौरवशाली पद की वह एक-मात्र स्वामिनी है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा हो नहीं सकता तो स्वयँ ही उस पद को छोड़ देना अथवा त्याग देना, बहिन की बुद्धिमता नहीं कही जा-सकती। भाई के परिवार की

स्थिति यदि एक लड्डू भी भेजने की नहीं है तो क्या हुआ—उससे भाई और बहिन के निर्मल प्रेम में क्या अन्तर आ-सकता है। उस प्रेम की धारा तो अबाध गति से बहती ही रहेगी।

और यदि भाई भी बहिन के निर्मल प्रेम को मिठाइयों के थाल की बदौलत मानते हैं तो वे भाई वास्तव में बहिनों का अपमान करते हैं। भाई और बहिन का प्रेम नैसर्गिक है, शाश्वत है, वह लेन-देन के इन व्यवहारों पर नहीं टिका है। होली, दिवाली आदि पर्वों पर जो लेन-देन का आयोजन किया जाता है, यदि वह नहीं किया जायेगा तो बहिन नाराज़ हो जायेगी, भाई का ऐसा सोचना भारी भूल है। अगर ऐसा ख़याल आप करते हैं तो मैं कहूँगा, आपने भारतवष की बहिन को अभी समझा ही नहीं है। आपने वह हृदय ही नहीं पाया है, जिसमें बहिन के निर्मल प्रेम की झाँकी आपको मिल सके। जिसमें आपको अपनी बहिन के सच्चे दर्शन हो-सकें।

और यदि बहिन भी, भारतवर्ष की 'बहिन' इस रूप में विचार करती है कि आज भाई के यहाँ से कुछ क्यो नहीं आया और यदि आया है तो थोड़ा क्यों आया है और भाई ने या भौजाई ने यह गड़बड़ी क्यों की है, जब कि भाई की हैसियत लाखों की है, इतना थोड़ा क्यों भेजा है—तो मैं कहूँगा—बहिन अपने भाई को भाई नहीं समझ रही है। वह अपने बहिन वाले स्वरूप को भी भूल रही है। मैं सोचता हूँ, यदि लेन-देन के ये नाटक बन्द ही कर दिये जाँय तो समाज में फैली हुई

विषमता, घृणा और द्वेष स्वतः ही समाप्त हो जाँय। और बहिनें भी अपने भाई के घर को, नाते-रिश्तेदारों के घरों को, अपने पति के घर को और सारे संसार के घरों को भी एक ही गज से नापना सीख जाँय। तो, संसार के प्रत्येक घर में सुख और शान्ति का अखण्ड राज्य हो।

बड़ा भद्दा मालूम होता है, जब एक हवेली में मेहमान के नाज़-नखरे उठाये जा रहे हों और उस हवेली के पास वाले मकान में भूखे बच्चे तड़प और रो रहे हों। क्या इस प्रकार समाज का गौरव सुरक्षित रह सकता है? और जब समाज का गौरव ही सुरक्षित नहीं है तो भाई और बहिन के गौरव को फिर किस प्रकार सुरक्षित बतलाया जा-सकता है। तो, लेन-देन के इन नाटकों को बन्द करने का दोनों ओर से प्रयत्न होना चाहिए। भारतवर्ष के साहित्य में, संस्कृति में और भारतवर्ष की सभ्यता में, हज़ारों वर्षों से प्रेम के नाते बहिन को जो माननीय स्थान प्राप्त है, वह प्रेम की मूर्ति होने के कारण ही! शुद्ध रूप में बहिन होने की दृष्टि से ही! तो, लेन-देन के ये व्यवहार एकदम बन्द कर देने चाहिएँ। इनको बन्द करने के लिए बहिनों की ओर से भी प्रयत्न होना चाहिए। इनके प्रति यदि बहिनें विद्रोह करें तो और भी अच्छा है। यदि उन्होंने निकट-भविष्य में ही इन व्यवहारों के प्रति अपनी आवाज़ बुलन्द न की तो मैं समझता हूँ, जो गौरव उन्हें हज़ारों-लाखों वर्षों से प्राप्त है, बहिन होने के नाते भाई का विमल दुलार जो उन्हे मिला है,

वह एक बारगी ही समाप्त होकर गहरे गर्त्त में समा जायेगा ।

एक बहिन को बहिन के रूप में जो आदर, जो सम्मान, जो प्रेम और गौरव भाई की ओर से मिलता है, क्या उससे भी बड़ी चीज़ कोई है जो एक भाई अपनी बहिन को दे-सकता है । मैं तो नहीं जानता । मैं नहीं समझता । मैं तो इतना जानता हूँ, अगर भाई ने बहिन को सोने में तोला या सोने और चाँदी की दो-चार चीज़ें बहिन को दीं और उन चीज़ों को प्राप्त कर बहिन ख़ुश हुई तो उन दोनों ने ही एक-दूसरे का अपमान किया । परस्पर के प्रेम की सात्विकता को नष्ट कर दिया और एक बनावट की दुनियाँ अपने बीच में खड़ी कर ली, जो न देने की ज़रासी ठेस से ही उन दोनों भाई-बहिनों को सर्वदा-सर्वदा के लिए जुदा कर देगी । भाई से चाँदी-सोने की दो- चार चीज़ें प्राप्त करने पर ख़ुश होना और न मिलने पर रोना, यह बहिन के लिए गौरव की बात नहीं कही जा-सकती । और न यह उसके जीवन का आदर्श ही है ।

मैं पूछता हूँ, किसी बहिन का भाई ग़रीब है—तो क्या वह उस बहिन का भाई नहीं है और अगर किसी बहिन के पति का घर ग़रीब है, तो उस बहिन का घर ग़रीब है तो क्या भाई की वह बहिन नहीं है । मेरी समझ में ग़रीबी एक मन की भावना है । अगर कोई घर रुपये-पैसे के लिहाज़ से बहुत ग़रीब है। कल्पना करें कि कई-कई दिनों तक उस घर में अन्न के दर्शन ही नहीं होते; मगर उस घर के निवासी अपने मन में इस भावना को

पनपने ही नहीं देते कि वे ग़रीब हैं तो वह घर दरिद्र नहीं। वह घर भी वैसा ही स्वर्ग है, जैसा कि एक दूसरा धन-धान्य से पूर्ण घर! वास्तव में, उन लोगों की मुस्कराहट उस घर को स्वर्ग बनाये हुए है। और एक दिन उनकी यही मुस्कराहट उनके संकटों को चूर चूर कर देगी। जीवन की यात्रा में जो दिल का बादशाह और अमीर है, वही अपनी इस यात्रा को सफलता-पूर्वक पूरी करेगा। जो हिमालय की चट्टान की भाँति मजबूत और अटल है, उसकी सभी कठिनाइयाँ उससे टकरा-टकरा कर चूर-चूर हो जायेंगी और उसका वह साहस हज़ारों वर्षों तक दूसरों को रोशनी देता रहेगा।

किसी भाई ने ख़ूब पैसा कमा कर बम्बई-कलकत्ता में ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ खड़ी करलीं; मगर उसका मन गरीब है—इस प्रकार बाहर में तो उसकी बादशाहत दिखलाई दे रही है; मगर दृढ़ और उदार मन के स्थान पर वह माँस का एक लोथड़ा लटकाये फिर रहा है। उसमें इतनी उदारता है ही नहीं कि किसी को उसमें से कुछ दे भी सके। विश्व-कल्याण की भावना उससे कोसों दूर खड़ी है तो उसे अमीर कहना अमीरी का मखौल करना है। इस प्रकार जो भाई मन के ग़रीब हैं, उनसे विश्व का कल्याण नहीं होगा। घर का कल्याण भी नहीं होगा।

आज परिवार और समाज के रूप में जो-कुछ भी दिखलाई दे रहा है, उसे एकमात्र प्रेम के आधार पर भगवान ऋषभदेव ने खड़ा किया। वह युगलियों का युग था। भगवान ऋषभदेव के समय

में युगलिये अलग-अलग इकाई के रूप मे फिरा करते थे। भाई-वहिन जैसा सम्बन्ध उनमें नहीं था। केवल पति-पत्नि के रूप में वे जरूर दिखलाई देते थे। मगर इस रूप में वे परस्पर सम्बन्धित होते हुये भी वास्तव मे अलग-अलग ही थे। पति को भूख लगी तो वह कहीं पर गया और खा आया और पत्नि को प्यास लगी तो वह भी किसी ओर गई और पानी पी आई—मतलब, एक-दूसरे के प्रति उनमें उत्तरदायित्व की भावना बिल्कुल भी न थी। इस प्रकार पति-पत्नि के रूप में साथ-साथ रहते हुये भी वे अलग-अलग थे। न पति को पत्नि की प्यास की चिन्ता थी और न पत्नि को पति की भूख की।

तो, भगवान् ऋषभदेव ने सोचा—अगर इस प्रकार ये सब अलग-अलग रहे तो एक दिन ये सब समाप्त हो जायेंगे। तो, उन्होंने उन्हे इकट्ठा किया और इस प्रकार उनका समाज बनाया। घर, परिवार और समाज को जन्म दिया–फिर, उन्हें राष्ट्र का रूप समझाया। तब, वे एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ बने और जो बिखरे या अलग-अलग थे, वे मिलकर एक होगये। अब वे परस्पर एक-दूसरे की सहायता के लिये हर समय तैयार रहने लगे। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने सबसे पहिले बिखरे हुओं को संगठित किया और एक को दूसरे के प्रति जिम्मेदार बनाया।

यदि पति और पत्नि अलग-अलग भटक रहे हैं और पिता और पुत्र का रास्ता अलग-अलग है। एक भाई एक ओर जा रहा है और दूसरा भाई दूसरी ओर—और इस प्रकार वे

सम घर को हुल्लड़बाज़ी का केन्द्र बनाये हैं—जहाँ शान्ति से दस आदमी एक-साथ बैठकर खा-पी भी नहीं सकते, प्रेम-पूर्वक बात-चीत नहीं कर सकते और बात-चीत करें तो प्रेम-पूर्वक समझौता नहीं कर सकते—तो, मैं पूछता हूँ, वह घर है या कुछ और ? वे सामाजिक प्राणी हैं या कुछ और ? इससे अच्छा तो यही था कि वे सब मनुष्य न बनकर कीड़े-मकोड़े बन जाते। और अगर मनुष्य बने हैं तो मनुष्य की तरह उन्हें एक-दूसरे के प्रति वफ़ादार रहना चाहिये।

तो, बहिनें आज इस पवित्र दिन की महत्ता को क़ायम रखने के लिये प्रण करें कि वे किसी भी रूप में, किसी भी अवसर पर पिता के गौरव और भाई के गौरव का अपमान न होने देंगी। उस पर आँच न आने देंगी। और इसी सन्देश को लेकर वे पति के घर जाँय तो पति के गौरव की रक्षा करें। आज समाज में बड़ी गड़बड़ मची है और लगभग प्रत्येक घर में बड़े ख़राब दृश्य देखने को मिल रहे हैं, तो, उन दृश्यों को देख-सुन-कर मन को बड़ा कष्ट होता है। अगर भाई के लिए बहिन भार-स्वरूपा है, बहिन के कारण भाई को कुछ वज़न महसूस होता है, जैसा आजकल प्रत्येक भाई को महसूस होता है और जो समाज में प्रचलित कुरीतियों के कारण है तो क्या यह अच्छी बात कही जा-सकती है ? अगर बहिन को देखकर भाई को चिन्ता करनी पड़ी, इसलिये कि उस बहिन के विवाह में वह कहाँ से खर्च करेगा, बहिन को कहाँ से देगा, जबकि उसकी आय तो केवल इतनी ही है कि वे

सब मिलकर दुक्खम-सुक्खम किसी प्रकार पेट भरलें—तो, भाई और बहिन के बीच वह प्रेम अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रह सकता। और जो समाज इस प्रकार ग़लत रास्ते पर चल रहा है, वह भी अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकता। तो, बहिनों को चाहिये, आज वे प्रतिज्ञा करें कि वे समाज के इस बुरे रूप को जल्दी ही बदल डालेंगी। उसे जल्दी ही समाप्त कर देंगी।

जहाँ परस्पर प्रेम का आधार होना चाहिए, वहाँ यदि रुपये-पैसे का आधार आकर अटक गया है तो उसे तोड देन चाहिए। और जब समाज के बलवान भाई आगे आयेंगे और इसे तोड़ देंगे तो यह तुरन्त टूट जायेगा। भाई-बहिन के बीच और पति-पत्नि के सम्बन्ध मे यदि धर्म के नाम पर भी रुपये-पैसे का आधार बना हुआ है तो उसे आज ही तोड़ दो, अभी तोड़ दो—और अगर नहीं तोड़ोगे तो कल्याण नहीं होगा। समाज और धर्म का आधार एक दूसरे की सद्भावना का आधार है—उसका आधार रुपया-पैसा नहीं होना चाहिए। भाई-बहिन अथवा पति-पत्नि का आधार भी रुपया-पैसा नहीं है। ये सम्बन्ध प्रेम के आधार पर क़ायम हुए और प्रेम के आधार पर ही टिके हैं। इसी तरह नातेदारी, रिश्तेदारी और सामाजिक व्यवहार भी प्रेम और सद्-भावना के आधार पर ही क़ायम हैं। अगर उनका आधार रुपया-पैसा है तो एक-दूसरे का एक-दूसरे पर इतना वजन पड़ा हुआ है कि वह समाज कभी हँस नहीं सकता—हमेशा रोता ही रहेगा। तो, ऐसे कमज़ोर समाज

को मानवता के प्रेम से मजबूत बनाने की आवश्यकता है। वास्तव में, स्नेह और प्रेम के आधार पर परस्पर जो ताल्लुक़ात होते हैं, वे इतने मीठे और मजबूत होते हैं कि संसार की कोई भी शक्ति उन्हें कड़वा और कमज़ोर नहीं बना सकती। उनके स्थायित्व को नहीं मिटा सकती। जन्म-जन्मान्तर तक वे सम्बन्ध इसी प्रकार चलते रहेंगे।

हमारे यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है—एक बार एक धर्म-गुरु अपने चेले-चाँटियों को साथ में लेकर यात्रा कर रहे थे—पहाड़ी मार्ग पर! शरीर बलवान था; मगर फिर भी पहाड़ पर चढ़ते-चढ़ते हाँफने लगे। तभी, उन्होंने एक आठ-नौ साल की लड़की को उसी मार्ग पर आगे बढ़ते हुए देखा, जिसकी पीठ से तीन चार साल का एक छोटा बालक बँधा था; मगर वह मुस्कराती हुई अपना रास्ता तय कर रही थी। वह पहाड़ की चोटी की ओर ऊपर बढ़ती जा रही थी और उस बच्चे से कहती जारही थी—गिराई! गिराई! मगर उसे गिरा नहीं रही थी। और उस लड़की को इस रूप में देखकर धर्म-गुरु ने सोचा, तू इतना बलवान है, तेरे कपड़े-लत्तों का भार भी तेरे चेलों पर है और इस प्रकार तू परिग्रह इधर-उधर देता जा-रहा है; मगर तू हाँफ रहा है, लेकिन यह लड़की अपनी पीठ पर उस बच्चे का भार उठाये हुए हँसती हुई अपनी मंज़िल तय कर रही है—तो, उन्होंने उस लड़की से पूछा—'तू इसे अपनी पीठ पर लादकर चल रही है तो तुझे वज़न मालूम नहीं होता?' और

लड़की ने कहा—'कैसा वज़न ? यह कोई वज़न है ! यह तो मेरा भाई है ! यह बोझा नहीं, यह तो मेरा भाई है।'

मैं समझता हूँ, उस आठ-नौ साल की लड़की ने यह उत्तर केवल उस धर्म-गुरु को ही नहीं दिया था; बल्कि उसका यह जवाब सारे संसार के मनुष्यों के लिए है। धर्मगुरु की यह बात उसकी समझ में ही न आई कि भाई में भी वज़न होता है। वास्तव में, बहिन के लिए भाई, भाई है ! बोझा नहीं। इसी प्रकार यदि उस लड़की के स्थान पर कोई लड़का होता और उसकी पीठ पर उसकी बहिन लदी होती तो उस धर्मगुरु को वह लड़का भी यही उत्तर देता—'यह कोई वज़न है, यह तो मेरी बहिन है।'

तो, जिस देश की यह संस्कृति है कि पिता के लिये पुत्र, पुत्र है और पुत्र के लिए पिता, पिता ! पत्नि के लिए पति, पति है और पति के लिए पत्नि, पत्नि ! बहिन के लिए भाई, भाई है और भाई के लिए बहिन, बहिन ! वे एक-दूसरे के लिए बोझा नहीं, वज़न नहीं—वे पिता और पुत्र हैं, पति-पत्नि हैं और भाई-बहिन हैं। तो, उस देश में आज परिस्थितियाँ बदल रहीं हैं—तो क्यों ? और इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है—दूसरो की देखा-देखी हम स्वार्थ के घेरे मे बन्द होते जा-रहे हैं। हमारा दिल छोटा होता चला जा रहा है। हम प्रेम और स्नेह के आधार को छोड़ते चले जा रहे हैं, जिससे जीवन में कड़वाहट आती चली जारही है। मगर हजारों-लाखों वर्षों के वे संस्कार अभी हमसे एकदम जुदा नहीं हो गये हैं। अभी

भी इस पावन-भूमि पर वे बिखरे पड़े हैं।

इसी भाव से सम्बन्धित मुझे एक दिन की घटना याद हो आई। हम कई साधु विहार में थे। एक दिन रात्रि को विश्राम करने के लिए स्थान की समस्या सामने आकर खड़ी हो गई। हम जैन-साधु खुले में विश्राम नहीं करते हैं, इसीसे परेशानी थी। जिस गाँव में पहुँचे हुए थे—स्थान के सम्बन्ध में उस गाँव के सभी निवासियों से पूछ-ताछ जारी थी; मगर रात्रि-भर के लिये हमें कोई भी नहीं ठहरा रहा था। दिन डूबने को था तो बड़ी दुविधा में थे हम सब! तभी, मुझे मालूम हुआ कि एक बहिन के पास हम सभी को ठहराने के लिए स्थान तो है; मगर वह अनुमति नहीं दे रही है। और मैं उसके सामने पहुँचकर शान्त भाव से बोला—'बहिन, यदि तुम्हारे यहाँ जगह है तो हमें रात्रि-भर ठहरने के लिए जगह दे दो।' और उसने सहर्ष हमें आज्ञा दे दी। तभी, एक सन्त ने मुझसे कहा कि मैंने इससे जगह माँगी तो इन्कार कर दिया; मगर आपको देदी, न जाने क्यों? और उनके इस प्रश्न को उस बहिन ने भी सुना तो बोली—'तुम मुझसे साधु होकर जगह माँग रहे थे; मगर इन्होंने भाई बनकर मुझसे जगह माँगी। तो, साधु के लिए मैंने इन्कार कर दिया; मगर भाई के लिए इन्कार न कर सकी। जब इन्होंने बहिन कह कर मुझे सम्बोधित किया तो मैं अपने भ्रातृ-प्रेम को, जो एक बहिन के मन में भाई के लिए कुदरती तौर पर होता है, न रोक सकी। अगर भाई को बहिन के यहाँ ही जगह न मिली तो

फिर कहाँ मिलेगी ?' और उस बहिन की इस बात को मैंने यों समझा—हम जैसे साधुओं को, विश्राम के लिए चाहे जगह न मिले; मगर भाई को स्थान जरूर मिलेगा।

तो जब, हजारों-लाखों वर्षों तक भारतवर्ष की यह संस्कृति रही है और वह प्रयत्न कर मिटाने से भी न मिट सकी है तथा इसीलिए जिसके दर्शन यत्र-तत्र अब भी हो जाते हैं और जब ऐसी बहिनें यहाँ बराबर जन्म लेती रहेंगी तो यह संस्कृति कभी भी न मिटेगी, न मिटेगी और भारत में इसका प्रचार और प्रसार फिर होगा। इसी ढर्रे पर जीवन का निर्माण फिर होगा।

आपने राजस्थान के इतिहास में महान् उदयन के जीवन को पढ़ा है। अध्ययन में पूर्ण, मननशील मगर दरिद्रता के कारण उखड़ा हुआ उदयन, नंगे पैर मारवाड़ के रेतीले मैदानों को पार कर, चीथड़ों में लिपटा जब सिद्धपुर पाटन पहुँचा तो उस भूखे युवक से वहाँ कौन पूछने वाला था कि तू भूखा है या तूने पेट भर लिया है। तू प्यासा है या पानी पी चुका है। तू दुखी है या सुखी ! और इस सत्य को भी उस समय कौन जानता था कि यही उदयन वहाँ के तात्कालीन राजा सिद्धराज जयसिंह का महामन्त्री बनेगा, फिर जयसिंह जिसके इशारे पर नाचेगा। उस समय के उस भूखे और दरिद्र उदयन को देखकर इस सत्य को समझ भी कौन सकता था।

और दो दिन का भूखा युवक उदयन जैसे-तैसे मालूम करके

एक जैन-धर्म-स्थान के बाहर जाकर बैठ जाता है। भूख के कारण उसका चेहरा कुछ उतरा हुआ है। मगर धर्म-स्थान में आने-जाने वाला कोई भी उस भूखे को ओर नहीं देखता। यों आने को तो रोज़ की तरह ही वहाँ बड़े-बड़े सेठ भी आये, जिनके गले में पड़े सोने के तोड़े और सिरों पर रक्खी सुनहरी काम की हुई पगड़ियाँ, चमक रहीं थीं और जिन्होंने गुरु के दर्शन किये और धर्म के नाम पर हज़ारों रुपये दान दिये; मगर उस भूखे युवक को ओर किसी ने आँख उठाकर भी न देखा। तो, यह समाज के लिए लज्जा की बात ही हो-सकती है। मन्दिर में लाखों रुपये चढ़ाये जा-सकते हैं। गुरु के नाम पर लबालब भरी हुई तिजोरियों के मुँह खोले जा-सकते हैं; मगर ग़रीब भाई की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा जा-सकता। पड़ौसी चाहे कितनी ही दरिद्रता का भार उठाये हुए जीवन में भटक रहा हो; मगर उसके लिये सेठों की मुट्ठियां बराबर कसी रहेंगी। और ऐसा ही अनुभव आज वहाँ धर्म-स्थान के बाहर बैठ कर उदयन ने किया। कई सेठ आये और वापिस चले गये; मगर उस भूखे और दरिद्र उदयन की ओर किसी ने भी न देखा।

मगर कुछ ही देर के बाद सिद्धपुर पाटन की रहने वाली बहिन लक्ष्मीबाई वहाँ पर आई। उसने उस दरिद्र उदयन को वहाँ पर बैठे हुये देखा और पूछा—'यहाँ किस लिये आये हो?' और वह युवक बोला—'रोटी की तलाश में!'

'क्या तुम्हारी जान-पहिचान का यहाँ पर कोई है ?' लक्ष्मी बाई ने फिर पूछा।

'नहीं।'

'फिर कैसे चलेगा ?'

'क्या हुआ, बहिन ! मैं तो अपने पुरुषार्थ और भाग्य पर भरोसा कर यहाँ पर आ गया हूँ। या तो काम करके किसी महत्वपूर्ण पद को मैं प्राप्त करूँगा या भूखा रहकर जीवन का अन्त कर दूँगा—मेरे जीवन का यही उद्देश्य है—या तो कार्य को सिद्ध करूँगा या कार्य करते-करते मर जाऊँगा।'

मगर बहिन ने फिर पूछा—'भोजन किया है या नहीं।'

तो, उदयन बोला—'बहिन, भोजन किये बिना तो दो दिन हो गये और न जाने कितने दिन और बीत जायेंगे। मगर मुझे भूख की चिन्ता नहीं है। यदि भूख की ही परवाह करता तो इतनी दूर से यहाँ कैसे चला आता।'

और लक्ष्मीबाई का हृदय हिल कर रह गया। उसने कहा—'तुम मेरे साथ चलो, भाई !'

'मैं तुम्हारे साथ किस प्रकार चलूँ बहिन ! मैंने तुम्हारे यहाँ कोई पुरुषार्थ नहीं किया ! तुम्हारी कोई सेवा नहीं बजाई—फिर, तुम्हारे साथ मुफ्त की रोटी खाने के लिये किस प्रकार चलूँ। क्यों कर चलूँ ?'

'तुमने मुझे बहिन कहा है और मैंने तुमको भाई, फिर, भाई के लिये बहिन की रोटी मुफ्त की रोटी नहीं होती। बहिन के

यहाँ अगर भाई रोटी खाता है तो भाई को पाप नहीं लगता। तुम कहीं के भी रहने वाले सही और किसी भी क़ौम के सही, मगर जैन-धर्म ने हमें-तुम्हें भाई-बहिन के रूप में धर्म-स्नेह से बाँधा है। इसलिये तुम मेरे घर पर चलो।'

और बहिन लक्ष्मी बाई के इन शब्दों को सुनकर उदयन उठकर खड़ा हो गया। अपनी धर्म-बहिन के सात्विक आग्रह को वह टाल न सका। भाई का कलेजा जो था उसके!

अब उदयन रोटी लक्ष्मी बाई के यहाँ खाता और सारे दिन काम की तलाश में नगर में घूमता। लक्ष्मी बाई के कहने पर उसके पति ने भी उसकी सहायता की। उसे काम भी दिलवाया और रहने के लिए एक अलग मकान भी दे दिया। मकान मिल गया तो वह अपने बच्चों को भी अपने पास ले आया। इस प्रकार इस युवक उदयन ने धीरे-धीरे प्रगति की और उत्थान के पथ पर वह आगे बढ़ा—तो, एक दिन वही सिद्धपुर पाटन के महाराज का महामन्त्री बना। उसके पुत्र ने गुजरात की संस्कृति का निर्माण किया, जो कई सदियों तक वहाँ पर चलती रही।

तो, मैं कहता हूँ, उदयन जो इतना ऊँचा उठा, वह इस भाई-बहिन के बीच उत्पन्न होने वाले निर्मल प्रेम के कारण ही तो! यह हज़ारों-लाखों वर्षों से चली आने वाली इस संस्कृति के कारण ही है कि भारतवर्ष की बहिन के हृदय के द्वार भाई के लिये सर्वदा खुले रहते हैं—उसमें भाई के लिए अगाध

'क्या तुम्हारी जान-पहिचान का यहाँ पर कोई है ?' लक्ष्मी वाई ने फिर पूछा।

'नहीं।'

'फिर कैसे चलेगा ?'

'क्या हुआ, वहिन ! मैं तो अपने पुरुषार्थ और भाग्य पर भरोसा कर यहाँ पर आ गया हूँ। या तो काम करके किसी महत्वपूर्ण पद को मैं प्राप्त करूँगा या भूखा रहकर जीवन का अन्त कर दूँगा—मेरे जीवन का यही उद्देश्य है—या तो कार्य को सिद्ध करूँगा या कार्य करते-करते मर जाऊँगा।'

मगर वहिन ने फिर पूछा—'भोजन किया है या नहीं।'

तो, उदयन वोला—'बहिन, भोजन किये बिना तो दो दिन हो गये और न जाने कितने दिन और वीत जायेंगे। मगर मुझे भूख की चिन्ता नहीं है। यदि भूख की ही परवाह करता तो इतनी दूर से यहाँ कैसे चला आता।'

और लक्ष्मीवाई का हृदय हिल कर रह गया। उसने कहा—'तुम मेरे साथ चलो, भाई !'

'मै तुम्हारे साथ किस प्रकार चलूँ वहिन ! मैंने तुम्हारे यहाँ कोई पुरुषार्थ नहीं किया ! तुम्हारी कोई सेवा नहीं बजाई—फिर, तुम्हारे साथ मुफ्त की रोटी खाने के लिये किस प्रकार चलूँ। क्यों कर चलूँ ?'

'तुमने मुझे वहिन कहा है और मैंने तुमको भाई, फिर, भाई के लिये वहिन की रोटी मुफ्त की रोटी नहीं होती। बहिन के

यहाँ अगर भाई रोटी खाता है तो भाई को पाप नहीं लगता। तुम कहीं के भी रहने वाले सही और किसी भी क़ौम के सही, मगर जैन-धर्म ने हमें-तुम्हे भाई-बहिन के रूप में धर्म-स्नेह से बाँधा है। इसलिये तुम मेरे घर पर चलो।'

और बहिन लक्ष्मी बाई के इन शब्दों को सुनकर उदयन उठकर खड़ा हो गया। अपनी धर्म-बहिन के सात्विक आग्रह को वह टाल न सका। भाई का कलेजा जो था उसके!

अब उदयन रोटी लक्ष्मी बाई के यहाँ खाता और सारे दिन काम की तलाश में नगर में घूमता। लक्ष्मी बाई के कहने पर उसके पति ने भी उसकी सहायता की। उसे काम भी दिलवाया और रहने के लिए एक अलग मकान भी दे दिया। मकान मिल गया तो वह अपने बच्चों को भी अपने पास ले आया। इस प्रकार इस युवक उदयन ने धीरे-धीरे प्रगति की और उत्थान के पथ पर वह आगे बढ़ा—तो, एक दिन वही सिद्धपुर पाटन के महाराज का महामन्त्री बना। उसके पुत्र ने गुजरात की संस्कृति का निर्माण किया, जो कई सदियों तक वहाँ पर चलती रही।

तो, मैं कहता हूँ, उदयन जो इतना ऊँचा उठा, वह इस भाई-बहिन के बीच उत्पन्न होने वाले निर्मल प्रेम के कारण ही तो! यह हजारों-लाखों वर्षों से चली आने वाली इस संस्कृति के कारण ही है कि भारतवर्ष की बहिन के हृदय के द्वार भाई के लिये सर्वदा खुले रहते हैं—उसमें भाई के लिए अगाध

प्रेम भरा है और जिसने भी उसे वहिन कह कर पुकारा वही उस प्रेम का अधिकारी होगया।

वहिन लक्ष्मीबाई के त्याग, प्रेम और स्नेह से पूर्ण यह घटना लगभग ८०० वर्ष पुरानी है; मगर उसके सच्चे बलिदान के कारण वह आज भी जीवित है और हजारों-लाखों वर्ष तक जीवित रहेगी। सम्भव है, अनेक महानुभावों ने लाखों पौषध और सामयिकें की होंगी, इस जीवन में भी और पिछले जीवन मे भी ' हजारों पारने भी कराये होंगे और इस प्रकार आत्मा का कल्याण भले ही किया होगा; मगर लक्ष्मीबाई ने याद रखने योग्य यह एक ही बात की और वह उदयन का निर्माण करने में सफल हुई तो अमर होगई।

तो, आज भी वहिनों से मेरा यही कहना है कि वे अपनी संस्कृति की रक्षा करती हुई अगर विशाल-हृदया बनें तो घर का, नगर का, देश का और विश्व का कल्याण होने में फिर अधिक देर नहीं लगेगी। भाई भी अपने ओछे विचारों का त्याग करें और बहिन का निर्मल प्रेम प्राप्त कर उदयन की भाँति प्रगति के पथ पर आगे वढ़ें तो संसार का कल्याण होने में फिर कितने दिन लगेंगे। अधिक दिन नहीं। समाज में किसी भी कारण से अगर बुरे रीति-रिवाज पैदा हो गये हैं तो—जिससे इन्सान की तरह भाई और वहिनों को जीवित रहना वहुत कठिन हो गया है तो मैं कहता हूँ, भाई और वहिन आगे वढ़ें और समाज के इन बुरे रीति-रिवाजों को समूल नष्ट करदें। विश्व को कल्याण के पथ

पर अग्रसर करने के लिये भाई और बहिन मिलकर एक नये समाज का निर्माण करें।

जोधपुर
८-११-५३

सद्गुरु

आज पुण्यतिथि है, एक पुण्यात्मा की! पुण्यात्मा के जीवन का प्रत्येक क्षण मंगलमय होता है। सन्त पुरुष जिधर भी निकल जाते हैं, उधर के ही वातावरण को वे अपने जीवन के प्रकाश से चमकाते हुए चले जाते हैं। वास्तव में, उस ओर का चाहे कितना ही भी दूषित वातावरण क्यों न हो, क्रान्ति मचाकर वे उसमें आद्योपांत सुधार कर डालते हैं। एक अभिनव प्रकाश से प्रकाशित कर सद्यः स्नाता के समान उसे प्रफुल्ल-वदन और पुलकित-मन बना डालते हैं। ऐसा शक्ति-सम्पन्न और तेजोमय जीवन होता है, एक सन्त का!

दरअसल एक सन्त का जीवन सर्वदा युद्ध-रत रहने वाला जीवन है। वह सर्वदा युद्ध में संलग्न रहने वाला सिपाही है,

जो एक क्षण के लिये भी विश्राम करना नहीं जानता। सो रहा है, तो भी लड़ रहा है और जाग रहा है, तो भी लड़ रहा है। बुराइयों के विपरीत उसका युद्ध निरन्तर चलता रहता है। वास्तव में, वह ऐसा बांका सिपाही है जो युद्ध के मोर्चे से हटना ही नहीं जानता। जिसने पीठ दिखाने का पाठ पढ़ा ही नहीं है, इसके विपरीत वह तो क़दम-क़दम पर विजय प्राप्त करता हुआ अबाध गति से अपने जीवन-पथ पर आगे बढ़ता है। धर्म-समभाव, स्वभाव समभाव और व्यक्ति समभाव को अपने हृदय में बसाये फिर वह जिधर भी निकल जाता है, उधर ही की आत्माओं पर चढ़े मैल को दूर करता हुआ उनमें जीवन को ज्योति जगाता चला जाता है। स्वांतः सुखाय और परहिताय—दोनों ही प्रकार की भावनाएँ समभाव से उसके हृदय में निवास करती हैं और वह सभी आत्माओं को सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता हुआ एक दिन आवागमन के बंधन से मुक्त हो जाता है। ऐसा पवित्र और शिवमय जोवन होता है, एक संत का !

और जब ऐसा सन्त गुरु के पद को सुशोभित करता है—तो, ऐसा वह केवल बाना बदल कर ही नहीं कर लेता। ढोंग रचाकर ही गुरु नहीं बन जाता। धोखा देकर ही उस गद्दी पर जाकर नहीं बैठ जाता। इसके विपरीत अपने इस स्थूल शरीर को सभी वासनाओं को त्यागकर ही गुरु के उस आसन को ग्रहण करता है। अपनी सभी इन्द्रियों को अपने अधिकार में लेकर ही उस

सद्गुरु

आज पुण्यतिथि है, एक पुण्यात्मा की! पुण्यात्मा के जीवन का प्रत्येक क्षण मंगलमय होता है। सन्त पुरुष जिधर भी निकल जाते हैं, उधर के ही वातावरण को वे अपने जीवन के प्रकाश से चमकाते हुए चले जाते है। वास्तव में, उस ओर का चाहे कितना ही भी दूपित वातावरण क्यों न हो, क्रान्ति मचाकर वे उसमें आद्योपांत सुधार कर डालते हैं। एक अभिनव प्रकाश से प्रकाशित कर सद्यः स्नाता के समान उसे प्रफुल्ल-वदन और पुलकित-मन बना डालते हैं। ऐसा शक्ति-सम्पन्न और तेजोमय जीवन होता है, एक सन्त का!

दरअसल एक सन्त का जीवन सर्वदा युद्ध-रत रहने वाला जीवन है। वह सर्वदा युद्ध में संलग्न रहने वाला सिपाही है,

जो एक क्षण के लिये भी विश्राम करना नहीं जानता। सो रहा है, तो भी लड़ रहा है और जाग रहा है, तो भी लड़ रहा है। बुराइयों के विपरीत उसका युद्ध निरन्तर चलता रहता है। वास्तव में, वह ऐसा बांका सिपाही है जो युद्ध के मोर्चे से हटना ही नहीं जानता। जिसने पीठ दिखाने का पाठ पढ़ा ही नहीं है, इसके विपरीत वह तो क़दम-क़दम पर विजय प्राप्त करता हुआ अबाध गति से अपने जीवन-पथ पर आगे बढ़ता है। धर्म-समभाव, स्वभाव समभाव और व्यक्ति समभाव को अपने हृदय में बसाये फिर वह जिधर भी निकल जाता है, उधर ही की आत्माओं पर चढ़े मैल को दूर करता हुआ उनमें जीवन को ज्योति जगाता चला जाता है। स्वांतः सुखाय और परहिताय—दोनों ही प्रकार की भावनाएँ समभाव से उसके हृदय में निवास करती हैं और वह सभी आत्माओं को सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता हुआ एक दिन आवागमन के बंधन से मुक्त हो जाता है। ऐसा पवित्र और शिवमय जीवन होता है, एक संत का !

और जब ऐसा सन्त गुरु के पद को सुशोभित करता है—तो, ऐसा वह केवल बाना बदल कर ही नहीं कर लेता। ढोंग रचाकर ही गुरु नहीं बन जाता। धोखा देकर ही उस गद्दी पर जाकर नहीं बैठ जाता। इसके विपरीत अपने इस स्थूल शरीर की सभी वासनाओं को त्यागकर ही गुरु के उस आसन को ग्रहण करता है। अपनी सभी इन्द्रियों को अपने अधिकार में लेकर ही उस

गौरवशाली पद पर विराजमान् होता है। अपने पुराने संस्कारों को सर्वथा भूलकर ही उस ओर जाता है। संसार के प्रपञ्चों में फँसी हुई आत्मा को पूर्ण रूप से मुक्त करके ही वह उस पद को सुशोभित करता है—इसीलिए वह अपना बाना केवल एक बार ही बदलता है। उसकी तोबा ऐसी नहीं होती, जिसको तोबा की हाजत हो। भारतवर्ष के एक महान् कवि ने कहा है—

बाना बदले सौ-सौ बार, बदले बाना तो बेडा पार !

सन्त अपना बाना एक बार ही बदला करते है—दूसरी बार बदलने की उन्हे जरूरत नहीं पड़ती। वह संत ही क्या है, जिसने दूसरी बार बाना बदला। इस सम्बन्ध में जैनाचार्य कहा करते हैं कि यह वेप इस अनन्त जीवन में कितनी ही बार ग्रहण किये और मुँह-पत्तियों और ओघो के ढेर लगा दिये—तो, बार-बार के छोड़े हुये उन बानों से अनेक पहाड़ तो ढक दिये; मगर आत्मा के लिये क्या किया—कुछ भी तो नहीं। वेष बदल लिया, मगर वासना की गलियों में ठोकरें खाते ही फिरे, कुत्तों की भाँति विकारों की लड़ाई चलती ही रही—जीवन को बदल ही न पाये, जिधर भी गये, उधर प्रेम का सन्देश दे ही न सके, अज्ञान के अंधकार में ठोकरें खाने वाले मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश न दे-सके—तो, ऐसे पेटू-गुरु बनने से क्या लाभ ? दूसरों की रोटियों पर पलते रहे और दिन-प्रतिदिन मोटे होते चले, मगर ज्ञान के प्रकाश को जाना भी नहीं और दूसरों को जताया भी नहीं—तो, क्या हुआ—कुछ भी तो नहीं।

चेले-चंटारियों को अपने चारों ओर इकट्ठा करके, बड़े-बड़े पोथों को अपने पास में रखकर और शरीर को खूब फुला लेने पर ही कोई गुरु नहीं बन जाता। जो, अपने जीवन में साधना का गुरुत्व, विवेक का गुरुत्व और आचार का गुरुत्व लेकर चलता है, वास्तव में, गुरु तो वही है। ऐसे उस गुरु के पास मे चाहे एक भी चेला न हो, पुस्तकों के नाम पर एक भी पुस्तक न हो और चाहे उसका शरीर कितना ही भी दुर्बल क्यों न हो; मगर फिर भी वह गुरु है—क्योंकि प्रतिक्षण उसकी आत्मा एक तेजोमय प्रकाश से दमदमकर दमका करती है। हृदय में एक अलौकिक आनन्द का स्रोत उमड़ा करता है, जिसकी शक्ति के सहारे वह सभी के जीवन को आनन्दमय बनाता चलता है, उनकी आत्मा के मैल को धोता चलता है।

तो, आज जिस गुरु की हम पुण्य-तिथि यहाँ पर मनाने के लिये सभी एकत्रित हुये हैं, वास्तव में, वह गुरु ऐसा ही था। वह आत्मा ऐसी ही थी, जिसने आज के दिन अपने नश्वर शरीर को सुख-पूर्वक त्याग दिया था। तो, एक न एक दिन उसका शरीर तो नष्ट होना था ही, और वह आज के दिन नष्ट हो भी गया; मगर उसकी आत्मा का प्रकाश अभी भी जगमगा रहा है। आज भी हजारों-लाखों आत्माओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रहा है। अनेकानेक नामधारी इन्सानों को वास्तव में इन्सान बना रहा है—क्योंकि, साधना के क्षेत्र में वह वीर-गति को प्राप्त हुआ है। संसार में ज्ञान की मशाल को जला कर यहाँ

से गया है—और उसके द्वारा जलाई गई वह मशाल आज भी जल रही है—तो, आज अगर हज़ारों-लाखों उसको याद कर रहे हैं—उसके जीवन के अनुरूप अपने जीवन को बनाने की चेष्टा में संलग्न हैं—तो, इसमें आश्चर्य करने की बात ही क्या है। चले जाने के बाद, सन्त के द्वारा छोड़ा हुआ प्रकाश तो ऐसा ही होता है, जो, सदा और सर्वदा सभी को इसी प्रकार अपनी ओर आकर्षित करता रहेगा। उनमें ज्ञान की अखंड ज्योति जलाता रहेगा। मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर करता रहेगा।

तो, इसी सत्य का विश्लेषण करते हुये एक दिन आचार्य ने अपने शिष्य से कहा—साधना के क्षेत्र में भी दो प्रकार के जीवन आते हैं। एक प्रकार के वे है, जो सिंह की भाँति इस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। अपनी आत्मा को भली प्रकार से बलवान बना कर यहाँ पर आते हैं—तो, यहाँ पहुँचकर फिर भय नहीं खाते। डर नहीं जाते। वास्तव में, उनका आचरण विशुद्ध, भय-रहित और निरावलम्ब होता है। तो, वे स्वप्न में भी अपनी साधना से मुख नहीं मोड़ते। दुख पड़ता है तो वे घबड़ा नहीं जाते, सुख आता है तो वे ख़ुशी से फूल नहीं जाते। सिंह की तरह ही इस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और दुख में, कष्ट मे, अपमान के समय में और हज़ारो के बीच में वह सिंह के समान ही खड़े होते हैं। इस कठिन-कठोर मार्ग पर बराबर आगे और और आगे बढ़ते रहते हैं। और दूसरो प्रकार के वे हैं जो इस मार्ग की कठिनाई से डर कर, गीदड़ के समान, क्षेत्र को छोड़कर भाग जाते हैं। युद्ध

के मोर्चे पर डटकर खड़े नहीं रह पाते—पीठ दिखाकर कायर की भाँति कर्त्तव्य से विमुख हो जाते हैं। तो, ऐसे कायर और कर्त्तव्य-भ्रष्ट की मृत्यु उसके लिए अपार कष्ट का कारण बनती है। मरते समय उसे अपार कष्ट का सामना करना पड़ता है—और तब, वह वेदना से चीख़ता और चिल्लाता है; मगर मौत के फ़रिश्ते उसे बांध कर ले जाते हैं—तो, दुनिया वाले भी उसे मरे हुये कुत्ते के समान घसीट कर फैंक देते हैं—इसलिये कि वह सड़कर उनके बीच सड़ाँद पैदा न करे।

मगर शेर, शेर की भाँति ही जीवन धारण करता है और शेर की तरह ही मृत्यु का आलिङ्गन भी ! वह मौत को देखकर घबड़ाता नहीं, डर नहीं जाता। वह तो शेर की तरह ही जीवित रहता है और शेर की तरह ही मृत्यु की गोद में बैठ जाता है। अन्तिम घड़ियों में भी उसके ज्ञान-दर्शन और चारित्र की चमक कम नहीं होती—तो, वह मृत्यु के बाद भी अपने चरित्र की चमक को छोड़ जाता है। वह तो शेर की तरह ही गरज-तरज के साथ यहाँ आया भी और जब यहाँ से गया तो शेर की तरह गरज कर ही यहाँ से गया भी ! तो, उसकी अन्तिम गरज की आवाज़ फिर हज़ारों वर्ष तक यहाँ पर गूँजती रहती है। उसके चरित्र का उज्ज्वल प्रकाश बराबर हज़ारों वर्षों तक दूसरों को मार्ग दिखाता रहता है—पथ-प्रदर्शन का कार्य करता रहता है। तो, उनके चले जाने के बाद लोग उनका नाम लेकर स्वयं को गौरवान्वित हुआ अनुभव करते हैं, उनकी जयन्ती

से गया है—और उसके द्वारा जलाई गई वह मशाल आज भी जल रही है—तो, आज अगर हजारों-लाखों उसको याद कर रहे हैं—उसके जीवन के अनुरूप अपने जीवन को बनाने की चेष्टा में संलग्न हैं—तो, इसमें आश्चर्य करने की बात ही क्या है। चले जाने के बाद, सन्त के द्वारा छोड़ा हुआ प्रकाश तो ऐसा ही होता है, जो, सदा और सर्वदा सभी को इसी प्रकार अपनी ओर आकर्षित करता रहेगा। उनमें ज्ञान की अखंड ज्योति जलाता रहेगा। मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर करता रहेगा।

तो, इसी सत्य का विश्लेषण करते हुये एक दिन आचार्य ने अपने शिष्य से कहा—साधना के क्षेत्र में भी दो प्रकार के जीवन आते है। एक प्रकार के वे हैं, जो सिंह की भाँति इस क्षेत्र में प्रवेश करते है। अपनी आत्मा को भली प्रकार से बलवान बना कर यहाँ पर आते हैं—तो, यहाँ पहुँचकर फिर भय नहीं खाते। डर नहीं जाते। वास्तव में, उनका आचरण-विशुद्ध, भय-रहित और निरावलम्ब होता है। तो, वे स्वप्न में भी अपनी साधना से मुख नही मोड़ते। दुख पड़ता है तो वे घबड़ा नहीं जाते, सुख आता है तो वे ख़ुशी से फूल नहीं जाते। सिंह की तरह ही इस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और दुख में, कष्ट मे, अपमान के समय मे और हजारों के बीच में वह सिंह के समान ही खड़े होते हैं। इस कठिन-कठोर मार्ग पर बराबर आगे और और आगे बढ़ते रहते हैं। और दूसरी प्रकार के वे हैं जो इस मार्ग की कठिनाई से डर कर, गीदड़ के समान, क्षेत्र को छोड़कर भाग जाते हैं। युद्ध

के मोर्चे पर डटकर खड़े नहीं रह पाते—पीठ दिखाकर कायर की भाँति कर्त्तव्य से विमुख हो जाते हैं। तो, ऐसे कायर और कर्त्तव्य-भ्रष्ट की मृत्यु उसके लिए अपार कष्ट का कारण बनती है। मरते समय उसे अपार कष्ट का सामना करना पड़ता है—और तब, वह वेदना से चीखता और चिल्लाता है; मगर मौत के फरिश्ते उसे बांध कर ले जाते हैं—तो, दुनिया वाले भी उसे मरे हुये कुत्ते के समान घसीट कर फेंक देते हैं—इसलिये कि वह सड़कर उनके बीच सड़ाँद पैदा न करे।

मगर शेर, शेर की भाँति ही जीवन धारण करता है और शेर की तरह ही मृत्यु का आलिङ्गन भी! वह मौत को देखकर घबड़ाता नहीं, डर नहीं जाता। वह तो शेर की तरह ही जीवित रहता है और शेर की तरह ही मृत्यु की गोद में बैठ जाता है। अन्तिम घड़ियों में भी उसके ज्ञान-दर्शन और चारित्र की चमक कम नहीं होती—तो, वह मृत्यु के बाद भी अपने चरित्र की चमक को छोड़ जाता है। वह तो शेर की तरह ही गरज-तरज के साथ यहाँ आया भी और जब यहाँ से गया तो शेर की तरह गरज कर ही यहाँ से गया भी! तो, उसकी अन्तिम गरज की आवाज़ फिर हजारो वर्ष तक यहाँ पर गूँजती रहती है। उसके चरित्र का उज्ज्वल प्रकाश बराबर हजारों वर्षों तक दूसरों को मार्ग दिखाता रहता है—पथ-प्रदर्शन का कार्य करता रहता है। तो, उनके चले जाने के बाद लोग उनका नाम लेकर स्वयं को गौरवान्वित हुआ अनुभव करते हैं, उनकी जयन्ती

होकर संसार को लुटाता हो। मानवों के लाभार्थ उसको विखेर करता हो। तो, आज-कल जब कभी साधु-मंडली के बीच सत्य से ओत-प्रोत विचारों को संसार के सम्मुख प्रकट करने की वात उठ खड़ी होती है तो, अक्सर मैं देखता हूँ कि अधिकांश साधु उस समय दुम दबाकर मौन साध लेते हैं। 'हाँ' कहने में भी हिचकिचाते हैं—तो, मुझे बड़ा अचम्भा होता है। और उस समय मैं सोचता हूँ—ऐसे साधक का जीवन किस काम का, जिससे सत्य का प्रकाश न हो। जीवन की समस्या को सुलझाने का समय आये तो, वह गूँगा बन जाये। बगलें झाँकने लगे। देते समय तो ऐसी कृपणता से काम ले अथवा जिसके पास देने के लिए कुछ भी न हो; मगर लेते समय दोनों हाथों से बटोरे—और इस तरह दूसरों को उल्लू बना कर संसार में जीवित रहे, मौज उड़ावे और साधु-वेश को भी लज्जित करे। तो, ऐसे साधु अधिक दिनो तक क़ायम नहीं रह सकते—अब समय आ गया है, या तो वे स्वयँ में आमूल परिवर्त्तन करलें—अथवा इस वेश को ही त्याग दें।

मैं सोचता हूँ, अब समय आगया है कि साधु भगवान् की वाणी को स्वयँ में साकार करें, आचार्यों के पवित्र बोलों को हृदय में बसायें और गुरु के नाम पर जीवित रहने की लालसा को त्याग दें। कर्त्तव्य-पालन के हेतु अपनी खुद की बुराइयों, संघ की बुराइयों और समुदाय की बुराइयों से मरदों की तरह से लड़ें। अज्ञान के अंधकार को दुर भगादें और ज्ञान के प्रकाश में दमदम

कर दमकें। जब साधु-वेश में उनके जीवन का यही लक्ष्य है तो उसको पूर्ण करें। सत्य को सत्य कहने में डरे नहीं और असत्य के लिये 'हाँ' न कहें। तभी वे इस संसार में स्थिर रह सकेंगे, अन्यथा नहीं। तो, क़ायम रहना अगर चाहते हो, संसार में जीवित रहना अगर चाहते हो—तो, अपनी और ससार की बुराइयों से जूझ पड़ो, उन पर विजय प्राप्त करो और एकान्त में ही नहीं, हज़ारों आदमियों के बोच में भी केवल सत्य ही कहो।

आज जिस पूज्य सन्त की पुण्य-तिथि मनाने के लिये हम सब यहाँ पर एकत्रित हुये हैं, वह सन्त ऐसा ही था। पूज्य शोभाचन्द्र जो महाराज एक ऐसे ही संत थे। उनके जीवन के सम्बन्ध में उन्हीं के शिष्य सह : मन्त्री पं० मुनि श्री हस्तीमल जी महाराज ने अभी-अभी आप सबसे बहुत-कुछ कहा है। वह सब-कुछ सुनने का मुझे भी मौक़ा मिला है—तो, मैं तो यही समझता हूँ कि पूज्य शोभाचन्द्र जी महाराज लगी आग को बुझाने में बहुत ही चतुर थे। उन्हें यह बात पसन्द ही न थी कि विद्वेष की आग कहीं पर सुलग रही हो और वह खड़े-खड़े उस आग का तमाशा देखते रहें। न सन्त ऐसा करता है और न उन्होंने ही किया। तो, वह संसार में आज भी जीवित हैं और चिरकाल तक जीवित रहेंगे। उनके द्वारा प्रदत्त वह महान् प्रकाश सर्वदा अनेकों को प्रकाश देता रहेगा—क्योंकि एक सन्त का प्रकाश समूचे विश्व के कल्याण के लिये होता है।

मगर इस दुनियाँ में आग लगाने वाले भी सन्त होते हैं-नाम-मात्र के वे सन्त! जिन्हें सन्त कहते हुये भी जिह्वा रुकती है, जो,

धर्म के और जातीयता के नाम पर आग लगा देने में बहुत ही पटु होते हैं। और उनकी लगाई हुई आग वह इतनी विषम होती है कि अनेकों का अकल्याण कर डालती है। उस आग से जलता हुआ पुत्र अपने पिता के मुक़ाबले पर खड़ा हो जाता है, भाई-भाई का दुश्मन हो जाता है। ब्राह्मण अपने जाति-भाई ब्राह्मण पर ही चढ़ दौड़ता है और वैश्य वैश्य पर जोर-आज़माई करता है। ऐसी होती है वह आग ! मगर जो वास्तव में सन्त होते हैं, वे सभी का कल्याण चाहते हैं। आग लगाने का नहीं, आग बुझाने का कार्य करते हैं। अन्धकार के विकार को जागृत करके किसी को भी विनाश के पथ पर नहीं ढकेलते। वे तो सर्वदा सत्य से ओत-प्रोत ही बात कहते हैं—जीवन-पर्यन्त सत्य की रक्षा के लिये ही लड़ते हैं और जब सच्ची बात कहने का कोई अवसर आता है तो सच्ची बात ही कहते हैं। उस समय वे डर नहीं जाते, झिझकते भी नहीं। उस समय वे सम्प्रदाय को महत्त्व नहीं देते, वे तो सत्य बोलकर सत्य की ही रक्षा करते हैं—उस समय उनको इस बात की चिन्ता भी नहीं सताती कि उनके सत्य बोलने से सम्प्रदाय का मान बढ़ रहा है या घट रहा है। न उन्हें अपनी प्रतिष्ठा की ही चिन्ता होती है। उस समय तो वे केवल सत्य को प्रकाशित करना ही अपना एक-मात्र कर्त्तव्य समझते हैं और अपने उसी कर्त्तव्य का पालन करते भी हैं—तो, ऐसे होते हैं—सन्त !

और पूज्य शोभाचन्द्र जी महाराज भी एक ऐसे ही सन्त थे।

शान्त मृदु और कोमल-हृदय! सत्य-वक्ता और असीम साहस वाले! वह अपनी बात को साधारण ढँग में सब के सामने रख देते और उनकी उस बात का सब पर गहरा प्रभाव पड़ता। पवित्र हृदय की सच्ची बात सब के हृदय की विद्वेषाग्नि को शान्त कर देती—और किसी कवि की यह वाणी पूर्णतः चरितार्थ हो जाती—

हम आग बुझाने वाले हैं, हम आग लगाना क्या जानें?

जब शोभाचन्द्र जी महाराज एक सच्चे गुरु थे—तो, आग लगाने का कार्य वह क्यों कर कर सकते थे—और न कभी उन्होंने किया ही! वह तो उस आग को बुझाना जानते थे और इसी पवित्र कार्य को करते भी थे। तो, यह कहना सत्य ही है कि पूज्य शोभाचन्द्र जी महाराज में वे सभी गुण मौजूद थे जो एक सच्चे गुरु में हुआ करते हैं।

आज जब वह प्रसंग आ गया है तो इस पर भी थोड़ा प्रकाश डाल दूँ। भ्रमवश अनेक भाई साधु को ही गुरु समझते हैं; मगर साधु और गुरु में बहुत अन्तर होता है। वास्तव में, साधु वह है—जो साधना के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। जीवन की मन्जिल पर चल रहा है—और गुरु वह, जो उस मार्ग की लम्बाई को बहुत अंशों में तय कर चुका है और इस योग्य बन गया है कि दूसरों को भी सही मार्ग दिखला सके, उनके जीवन की गुत्थियों को सुलझा सके। तो, साधना करने वाले साधु तो अनेकानेक हो-सकते हैं; मगर गुरुत्व का भार

उठाने वाले, सच्चे गुरु के पद को सुशोभित करने वाले उँगलियों पर गिने जाने योग्य ही साधु निकल पाते हैं। तो, गुरु भी साधु ही होते हैं; मगर प्रत्येक साधु गुरु हो, ऐसा नहीं हो सकता और न होता ही है। यह सम्भव भी नहीं है।

जहाँ साधु का कार्य एकमुखी होता है, वहाँ गुरु का बहु-मुखी! साधु तो केवल अपने जीवन को ही मांजता है, मगर गुरु अपने जीवन को तो माँजता ही है, साथ ही दूसरों के जीवन को भी माँजता है। वह जीवन की बुराइयों के साथ ख़ुद भी लड़ता है और दूसरों को भी लड़ना सिखाता है। और बुराइयों से लड़ते हुये वह स्वयँ भी देवत्व, ईश्वरत्व और परम ब्रह्मत्व की ओर क़दम बढ़ाता है और दूसरो को भी उस ओर जाने की प्रेरणा देता है। उस समय उन दूसरों से वह कहता है—ईश्वरत्व की ओर आगे बढ़ो, हम जीवन की मन्ज़िल को ज़रूर पार कर लेंगे—संसार की कोई भी शक्ति हमें उस ओर जाने से रोक नहीं सकती। और इस तरह अपने ज्ञान के प्रकाश में वह उस युद्ध के मोर्चे के सभी सिपाहियों को निरन्तर उत्साहित करता रहता है—और स्वयँ भी सफल-मनोरथ होता है और दूसरों को भी सफल बनाता है। तो, गुरु और साधु में बहुत अन्तर है। साधु केवल साधु है; मगर गुरु, गुरु और साधु दोनों ही है। वह साधु तो है ही; मगर गुरु भी है।

लेकिन आज-कल जो-कुछ देखने में आ रहा है, वह बहुत ही दुखप्रद है। आज तो सभी वे, जो साधु का वाना पहिने हुये

हैं और दरअसल साधु भी नहीं हैं, जिनका कमाल केवल इसी बात में है कि उन्होंने भोली-भाली जनता को बेवकूफ़ बनाने के विविध उपाय खोज निकाले हैं, वे सभी गुरु बने बैठे हैं और गुरु के माननीय पद को भी लजा रहे हैं। उन्हे अपने या पराये जीवन को माँजने से क्या मतलब—उन्हें तो जिन बातों से मतलब है, बिना परिश्रम किए वह मतलब पूरा हो जाता है। भाँग, गाँजा, चरस उन्हें पीने के लिये मिलना चाहिए और वे उन्हें पीने के लिये मिल जाते हैं—साथ ही रबड़ी वगैरह का लवाज़मा भी, जिससे खुश्की दबी रहे। फिर, उनके लिए तो चारों ओर आनन्द है। दुनियाँ जाये चूल्हे में, उन्हे क्या मतलब ! और दरअसल कुछ मतलब होता भी नहीं है। नशे के बीच उन्हें तो सारी दुनियाँ एक भुनगा नज़र आती है—उसकी वे क्या परवाह करें और करते भी नहीं हैं।

मगर चाहते यह हैं कि ससार में सर्वोपरि मान-सम्मान उन्हें मिले। जनता का मस्तक हर समय उनके चरणों में रक्खा रहे। उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन हो। और अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिये फिर वे किसी के सुखी घर में आग लगवा देने में भी आगा-पीछा नहीं सोचते। वे जघन्य से जघन्य कार्य को भी बड़ी आसानी से कर डालते हैं और खुश होते हैं। गुरु और साधु के नाम को लजाने वाले ये झूठे साधु और गुरु ! तो, ऐसे लाखों झूठे साधु और इसीलिए गुरुओं

से बचने की सलाह जनता को देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

इस सम्बन्ध में एक बात मुझे और याद आरही है, एक बार एक जिज्ञासु ने मुझसे पूछा—'महाराज, गुरु कौन होते हैं ?' तो, उसके इस प्रश्न के उत्तर में मैंने उससे कहा—गुरु वह है, जो अपने शिष्य को भी एक सफल गुरु, एक आदर्श गुरु बनादे। एक भौंडा पत्थर हमारे सम्मुख पड़ा हुआ है; मगर हम उसमें जीवन नहीं डाल पाते हैं—क्योंकि, हम उस विज्ञान को नहीं जानते, लेकिन एक कलाकार उसकी आकृति को बिल्कुल बदल डालता है। उसके भौंडेपन को मिटाकर उसको एक सुन्दर रूप प्रदान कर देता है, जिसमें से जीवन झाँकता हुआ-सा प्रतीत होता है। और उस कलाकार के समान ठीक यही कार्य एक गुरु का भी है। वह एक सोती हुई आत्मा मे जीवन फूँक कर उसे जगा देता है—और अन्त में अपने-जैसे ज्ञान से उसे परिपूर्ण कर देता है, तो ऐसा होता है, एक गुरु ! एक सच्चा गुरु !

और पूज्य शोभाचन्द्र जी महाराज एक ऐसे ही सच्चे और सफल गुरु थे, जिन्होंने अपने शिष्य श्री हस्तीमल जी महाराज को एक योग्य गुरु बनाकर अपने गुरु के कर्त्तव्य का पूर्णतः पालन किया। उन्होने संसार की अँधेरी गलियों में ठोकरें खाते हुए एक व्यक्ति को अपनी शरण में लिया और विश्व के कल्याणार्थ अपना-जैसा बनाकर छोड़ दिया। ऐसे

सामर्थ्यवान् गुरु के चरणों में श्रद्धाञ्जली अर्पित करते हुए मैं गौरव का अनुभव करता हूँ।

जोधपुर }
६-८-५३ }

सन्त-दर्शन

किसी भी महापुरुष अथवा सन्त के जीवन को जब कभी भी हम अपने सम्मुख लाते हैं तो ऐसा मालूम पड़ने लगता है—मानो, रंग-बिरंगे और सुगन्धित फूलों का एक विशाल बाग हमारे सामने साकार हो उठा है। और जिस प्रकार उन रंग-बिरंगे फूलों की सुगन्ध से किसी भी मनुष्य का मन आनन्द-विभोर हो उठता है, ठीक उसी तरह महापुरुष के गुण रूपी फूलों की सुगन्ध भी मन की वृत्तियों में पवित्र आनन्द की चल-लहरी-सी प्रवाहित कर देती है। तब, मनुष्य की कलुषित भावनाएँ शान्त हो जाती हैं और वह पवित्र उस चल-लहरी में आत्मसात हुआ निरन्तर आगे बढ़ता है। वास्तव में, ऐसा पवित्र, ऐसा निर्मल और ऐसा प्रभावोत्पादक जीवन होता है—

एक सन्त का !

वैसे सन्त स्वयँ में एक इकाई है, मगर अनेक सद्गुणों अथवा अनेकानेक अच्छाइयों के रूप में वह अनेकों जीवन का सत्य धारण किये रहता है। यही कारण है जो अनेक जीवन उससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं। अनेक जीवन उससे लाभान्वित होते हैं। अनेक जीवन अपने जीवन की सत्यता को प्राप्त कर सन्मार्ग के पथ पर, वास्तविकता और पवित्रता के मार्ग पर आगे बढ़ जाते हैं—तो, इहलोक में जीवन की सर्वोत्तम ऊँचाई प्राप्त कर उस लोक में मोक्ष को प्राप्त करते हैं। मोक्ष को प्राप्त करते हैं और जीवन-मरण के बंधन—आवागमन के चक्कर से छूट जाते हैं।

तो, ऐसा होता है, एक सन्त ! एक महापुरुष ! किसी विशेष रंग और किसी विशेष बनावट के कपड़े पहिन लेने, भिक्षा-पात्र हाथ में ले-लेने और सिर मुडा लेने से ही कोई मनुष्य सन्त नहीं बन जाता। यह किसी भी महापुरुष का बाहरी जीवन है, उसका अन्तरंग जीवन नहीं। यह किसी भी सन्त की बाहरी परिभाषा है, उसके अन्दरूनी जीवन की परिभाषा नहीं ! इसीलिये उसके भीतरी जीवन के सम्बन्ध में कुछ कहते समय हम उसके मन में निहित सद्गुणों का ही बखान करते हैं और उन्हीं से प्रभावित भी होते हैं।

तो, इस तरह जब एक सन्त का जीवन दो प्रकार का है तो प्रश्न होता है कि उसके बाहरी और अन्तरंग जीवन में से

पहिले कौनसा जीवन प्रारम्भ होता है ? उसके जीवन के अन्दर निश्चयभाव पहिले आता है या व्यवहार ? तो, इसके उत्तर में जैन-संस्कृति तथा इस परम्परा के अन्य आचार्यों ने एक-स्वर से कहा कि पहिले निश्चयभाव का आगमन होता है और बाद में व्यवहार आता है। साथ ही निश्चय की परिभाषा बतलाते हुये उन्होंने कहा कि निश्चय का अर्थ है—अपने मन में किसी आदर्श अथवा लक्ष्य को स्थापित करना। जब मनुष्य जीवन की वास्तविकता को समझ जाता है तो वह सोचने लगता है कि वह कौनसे मार्ग पर आगे बढ़े, कौनसी प्रेरणा लेकर चले—तो, मोक्ष को प्राप्त करले। और जब वह भली प्रकार से सोचने के उपरान्त किसी मार्ग पर चलना तय कर लेता है—वह यह निश्चित कर लेता है कि इस मार्ग पर बढ़ते हुये वह संसार की बुराइयो से लड़ेगा और अच्छाइयों को ग्रहण करेगा—तो, फिर उसे व्यवहार में लाता है। तो, निश्चित-भाव पहिले और व्यवहार बाद में आता है।

मनुष्य के मन में अनेक विकार मौजूद हैं और अनेक बराबर जन्म लेते रहते हैं। काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार, घृणा और द्वेष उनमे से कुछ हैं। वास्तव में, अपने इन्हीं विकारों के कारण मनुष्य अपने जीवन को बर्बाद कर लेता है। इस प्रकार उसने अब तक अपने अनेक जन्म बर्बाद कर लिये हैं। वासनाओं में लिप्त रहने के कारण ही उसने हमेशा दिव्य ऐश्वर्य को खो-दिया है। उसके जीवन में जो देवत्व है, ईश्वरी तेज है, जो परमात्म-

तत्व भरा है, अपने इन्हीं विकारों के कारण उसकी झाँकी वह कभी नहीं ले सका है। एक प्रकार से वह जागता हुआ भी सोता हुआ सा रहता है। संसार की अंधेरी गलियों में भटकता हुआ न वह अपने जीवन को पहचानने की कोशिश करता है और न दूसरों के जीवन की ओर ही ध्यान देता है। तो, अगर परमात्म-तत्त्व की झाँकी करनी है, अगर अपने ईश्वरीय तेज को जगाना है तो अपने जीवन को मोड़ देना ही होगा। कोई मार्ग निर्धारित करना ही होगा।

मगर अकेले संकल्प से भी कार्य नहीं सधता। अपने सकल्प को मूर्त रूप देना, उसे अमली जामा पहिनाना भी परम आवश्यक है। फिर, साधना की सहायता से उसे जीवन के कण-कण में व्याप्त कर लेना भी जरूरी है। और एक सन्त यही करता भी है। इसीलिए उसके बाहरी और भीतरी दोनों ही स्वरूप बदल जाते हैं। वास्तव में, सन्त अपना मन, अपना जीवन, वाणी, कर्म, हाथ और पैर इस प्रकार अपना सब कुछ बदल डालता है। वह शरीर के एक-एक अंग को बदल देता है। साधक की इसी स्थिति का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर एक स्थान पर कहते हैं—

हे साधक! जब तेरे हाथ, तेरे पैर, तेरे नेत्र और तेरे बोल तेरे नियन्त्रण में होते हैं—तेरी सभी इन्द्रियाँ तेरे संकेत पर नाचती हैं—तो, तेरे हाथ-पैर वही कार्य करते हैं, जो-कुछ तू उनसे करवाना चाहता है। तेरी आँखें वही देखती हैं, जो-कुछ

तू देखना चाहता है। तेरे कान वही सुनते हैं, जो-कुछ तू सुनना चाहता है। तेरी जिह्वा वही बोलती है, जो-कुछ तू बोलना चाहता है। तेरा मन भी वही सोचता है, जो-कुछ तू सोचना चाहता है।

वास्तव में, सन्त की इन्द्रियों की ऐसी ही स्थिति होती है। साधारण मनुष्य की-सी इन्द्रियों की भाँति उनकी यह मजाल नहीं हो सकती कि सन्त की आज्ञा के विपरीत वे कार्य कर सकें। सन्त जिस आवाज़ को सुनना चाहता है, सन्त के कान केवल उसी आवाज़ को सुनेंगे। सन्त जिस बात को जिस ढंग में कहना चाहता है, उसकी जिह्वा ठीक उसी ढँग से केवल उसी बात को कहेगी। यह नहीं हो सकता कि वह चाहे सोचना कुछ और—और उसका मन सोचे कुछ और! उसका मन उसके नियन्त्रण से बाहर निकल कर जीवन के किसी भी क्षेत्र में स्वतन्त्र दौड़ नहीं लगा सकता। अगर सन्त को अपनी इन्द्रियों पर इतना व्यापक अधिकार न हो तो फिर वह सन्त ही कैसा?

आज जिस सन्त की पुण्य-तिथि मनाने के लिए आप सब यहाँ पर इकट्ठे हुए है, वह कैसा था—आप में से अनेक उसके चरित्र को जानते हैं। वास्तव में भूधर जी स्वामी का अपने जीवन पर असीम अधिकार था। मारने वाले ने उन्हें मारा; मगर उनकी किसी भी इन्द्री ने बचाव की कोशिश न की। मानो, इस सन्त का शरीर जड़ था और कुल्हाड़ा चलाने वाले ने उस पर कुल्हाड़ा चला दिया। तो, शरीर का एक रोम भी

सहमा नहीं, बचाव करने के लिये उसने कोशिश भी न की—चोट पड़ती रही, मगर वह मुस्कराते रहे और अन्त में अहिंसा के सम्मुख हिंसा नत-मस्तक हुई—मारने वाला सन्त के चरणों में झुक गया। तो, सन्त-वाणी आशीर्वाद की अविराम वर्षा-सी करने लगी।

तो, सन्त इस संसार में फूलों की वर्षा करने के लिए आते हैं—अमृत बाँटने के लिए आते हैं; मगर दानव इसीलिए जन्म लेते हैं कि वे संसार में विष का वितरण करें, फूलों की बर्षा करने वालों को मिटा डालें। अज्ञान के द्वारा जो-कुछ भी होजाय, वही थोड़ा है। अज्ञानी मनुष्य जो-कुछ भी कर डाले, उसकी दृष्टि में वही ठीक है। क्योंकि, वह अज्ञानी मनुष्य जानता ही नहीं कि सन्त तो अपने जीवन को माँजता हुआ अपनी आत्मा और विश्व दोनों का कल्याण करना चाहता है। चाहे उसे लाठियों, तलवारों, ईंट-पत्थरों किसी से भी मारिये, मगर मारने वाले के प्रति उसके मन में घृणा और द्वेष नहीं जागेंगे। उसके शरीर से खून जरूर बहेगा; लेकिन उसके मन से खून नहीं निकलेगा। वहाँ तो अहिंसा और प्रेम की धाराएँ ही बहती रहेंगी। उसका मन तो मारने वाले के प्रति भी प्रेम का रस ही उढ़ेलता रहेगा—और उस समय के उस जहर को शिवशकर की भाँति पीता रहेगा। भारतवर्ष के एक विचारक ने, एक महान् कवि ने कहा भी है—संसार में कई तरह के प्राणी होते हैं, कई तरह के जीवन होते हैं—

'मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से, अमर सुधा से जीते हैं,
किन्तु हलाहल इस जग का शिवशंकर ही पीते हैं।'

मनुष्य दूध पीकर जीवित रहते हैं—अपने शरीर का निर्माण दूध की सहायता से करते हैं; मगर राक्षस दूसरों का रक्त पीकर अपने शरीर को पालते-पोषते हैं। उनके भीतर इन्सानियत के तत्व तो होते ही नहीं। वे तो राक्षसी भावना के सहारे ही यहाँ पर जीवित रहते हैं—और प्राणियों, यदि वे पशु-पक्षी हैं तो उन का रक्त पीकर, और यदि मनुष्य हैं तो उनका शोषण करके ही जीवन गुजारते हैं, सोने के सिंहासनों पर बैठते हैं। उनके जीवन का ध्येय ही केवल यह होता है कि वे इन्सान की जिन्दगी को कीड़े-मकोड़ों की तरह कुचल दें, चारों ओर हत्याकाँड का दृश्य उपस्थित करदें और उन निरीह प्राणियों की लाशों पर अपने महल खड़े करें।

किन्तु जो देवता होते है, जो देवताओं की भाँति अपना जीवन यापन करते हैं—वे आत्मा का, विश्व का कल्याण करते हुये जीवन-पथ पर आगे बढ़ते हैं। वे स्वयँ भी जीवित रहते हैं और दूसरों को जीवित रहने देना चाहते हैं। स्वयँ भी अमृत पीकर और दूसरों को भी पिलाकर वे जीवन यापन करते हैं। ऐसा पवित्र जीवन होता है, इन्सानों का! देवताओं का!

अगर आप पुराणों को पढ़ें, इधर-उधर के साहित्य को पढ़ें, भारतीय साहित्य के दो-चार पन्नों को पलटने का कष्ट करें तो देवताओं का, इन्सान का पवित्र जीवन आपके नेत्रों के सम्मुख

नाच उठेगा। एक पुराण में एक कहानी है—समुद्र-मन्थन की ! उस कहानी में कहा गया है कि एक-बार समुद्र का मन्थन हुआ। देवताओं और राक्षसों ने मिलकर उसे मथा—तो, उसमें से जहाँ पर अनेक रत्न निकले, अमृत निकला, वहाँ पर विष भी निकला—हलाहल ! कालकूट विष ! तो, रत्न तो एक-एक कर अनेकों ने ले लिये; मगर जब उस कालकूट विष को पान करने का मौक़ा आया तो वे सब बगलें झाँकने लगे। लेकिन तभी, शान्त मुद्रा में बैठे हुये शिवशङ्कर ने सोचा अगर इस भयकर विष का पान नहीं किया गया तो प्राणी रत्नों का उपयोग भी नहीं कर सकेंगे। जब सभी प्राणियों को यह विष जलाकर राख कर डालेगा तो संसार में से जीवन का चिन्ह ही मिट जायेगा। और इसी महान् भावना से, विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर शिवशङ्कर उस विष का पान कर गये। और जिस ढँग से उन्होंने उस विष का पान किया, वह भी एक चमत्कार पूर्ण घटना है। कहते हैं, जब उन्होंने उस विष को पिया तो न तो उसे कण्ठ से नीचे उतारा और न बाहर ही थूका। अगर वह उसे पेट में उतार लेते तो वह वहाँ पहुँच कर हलचल उत्पन्न कर देता और अगर बाहर थूक देते तो संसार का सर्वनाश कर देता—इसलिये उन्होंने उसे अपने कण्ठ में ही अटका लिया। इसीलिये शिवशङ्कर का एक नाम है—नील-कण्ठ ! क्योंकि उस विष ने उनके कण्ठ को नीलिमा से युक्त कर दिया।

अगर पुराण की इस कहानी को हम जीवन में उतार लें

तो जीवन का कल्याण बहुत अंशों में हो-सकता है। हम देखते है, ससार में सम्मान पाने के लिए हजारों-हजारों लालायित रहते हैं। संसार में प्रतिष्ठा पाने के इच्छुक न जाने कितने प्राणी दिन-रात भटकते रहते हैं। सोने का सिंहासन प्राप्त कर संसार में बड़े कहलाने के लिए न जाने कितने जीव कोहराम मचाते रहते है। मगर संसार में विद्यमान घृणा, तिरस्कार, अपमान रूपी जहर को जब पीने का वक्त उपस्थित होता है तो प्रतिष्ठा के लोभी ये मजनूँ न जाने उस समय कहाँ चले जाते हैं। तब, भोग-विलास में रत रहने वालों का भी पता नहीं चलता है। तब, उनमें से कुछ बाहरी विष का सहारा लेते हैं और अपने जीवन का अन्त कर लेते हैं। आप रोज देखते हैं, किसी के सम्मुख बुरा वक्त उपस्थित हुआ, व्यापार डगमगा गया और समाज के द्वारा प्रतिष्ठा को धक्का लगा तो बाहरी जहर पीकर जीवन को समाप्त कर लिया। अपमान का विष वह सहन न कर सका और दूकानों पर बिकने वाले विष की सहायता से उसने प्राणों का अन्त कर दिया।

मगर जो सन्त होते है, जीवन के पारखी होते हैं, जो प्रतिपल अपने और पराये जीवन पर गहरी दृष्टि रखते हैं, जो सब के कल्याण की भावना को अपने मन में बसाये रखते हैं—उनकी दृष्टि में बाहरी विप का कोई मूल्य नहीं होता। वे तो अपमान के विप का ही पान करते हैं। और शिवशंकर की भाँति उस विप को न अपने गले से नीचे ही उतारते हैं और

न उसे बाहर ही थूकते हैं। यही कारण है, जो सन्त अपना भी कल्याण करते हैं और प्रतिपल संसार के कल्याण के लिए भी जागरुक रहते हैं। वे, अपने ऊपर पत्थरों की वर्षा करने वाले पर भी फूल बरसाते हैं। हमारी संस्कृति के एक विद्वान ने कहा भी है—

सन्त का दिल मक्खन के समान कोमल होता है—वह दूसरे के दुख को देख कर तुरन्त पिघल जाता है। और सन्त के हृदय की कोमलता को बतलाने के लिए मक्खन को यह उपमा सैंकड़ों वर्षों तक दी जाती रही, मगर कई शताब्दियों के पश्चात भारत-वर्ष में एक ऐसे मनीषी ने भी जन्म लिया, जिसको मक्खन के साथ सन्त के हृदय की तुलना पूर्णरूपेण न जँची और उसने इस सम्बन्ध में अपना एक तर्क उपस्थित किया। तुलसीदास ने कहा—

सन्त-हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पर कहा न जाना।
निज दुख द्रवहि सदा नवनीता, पर-दुख द्रवहि सन्त पुनीता।

सन्त का हृदय मक्खन के समान कोमल है, ठीक है; मगर सन्त के हृदय के विषय में केवल इतना ही कह देने से काम नहीं चलता। बेचारा मक्खन सन्त के हृदय का मुक़ाबला क्या खाकर करेगा। कहाँ सन्त का हृदय और कहाँ मक्खन! सोचिये, अगर मक्खन के सामने किसी को पीड़ा दी जाये, मारा जाये, किसी को जला दिया जाये, बर्बाद कर दिया जाये—तो, क्या मक्खन पिघलेगा? कभी भी नहीं। दूसरे के कष्ट से, व्याकुलता

से मक्खन को कोई भी दुख नहीं होता। वह तो तभी पिघलता है, जब उसको कष्ट होता है, जब उसको गर्मी लगती है। अग्नि की गर्म लपटें जब उसको छूती हैं तो वह पिघल कर वह निकलता है। जब उसी पर चोट पहुँचती है तो वह पिघल जाता है। तो, वह सन्त के हृदय का क्या मुक़ाबला करेगा—जो अपने ही दुख में दुखी और सुख में सुखी होने वाला है। इसीलिए उसने कहा—कहाँ पर-कातर सन्त का हृदय और कहाँ स्वयँ के ही स्वार्थ में लीन रहने वाला मक्खन ! दोनों का क्या मुक़ाबला ?

तो, सन्त तो वही है, जिसके ऊपर हज़ार दुख आयें, हज़ारों हज़ारो पीड़ाएँ मिलें, अनेकों अपमान और तिरस्कार बर्दाश्त करने पड़ें, चारों ओर घृणा की आग लगी हो; मगर वह किसी से भी अपने ऊपर दया करने की प्रार्थना न करे। उस समय उसमें कोमलता की बुद्धि न जागे। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों दुख पड़ें, कष्ट पड़ें, अपमान, तिरस्कार और घृणा की लपटें उसे झुलसाने के लिए चारों ओर से झपटें, त्यों-त्यों ही उसका जीवन वज्र के समान होता जाये। क्या मजाल कि मन या वाणी पिघल जाये। क्या मजाल कि शरीर पिघल जाये। वास्तव में, सन्त स्वयँ में तो हिमालय की चट्टान के समान अडिग हो जाता है। स्वयँ के लिए तो वज्र-सरीखा बन जाता है—फिर तो चाहे उसके जीवन में हज़ारों आँधियाँ आयें; लाखों तूफ़ान आयें, मगर सन्त को उन आँधियों और तूफ़ानों

से डर नहीं लगता। वह तो उन आँधियों और तूफानों को सहर्ष सहन करता है और अडिग रहता है। वह अपना मोर्चा नहीं छोड़ता। इसके विपरीत वह तो अपमान, तिरस्कार, घृणा और दुख की आग के बीच अपना मार्ग बनाता है और जीवन की मन्ज़िल तक पहुँचता है।

मगर अडिग सन्त का वज्र-सरीखा हृदय उस समय पिघल कर पानी-पानी हो जाता है, जब वह दूसरों के दुखों, कष्टों और पीड़ाओं को देखता है। तब उसका प्रेम-भरा कलेजा उमड़ता है और उसकी अहिंसा छलकने लगती है। इसीलिए मनीषी ने कहा—कहाँ नवनीत और कहाँ सन्त का हृदय! बेचारा नवनीत सन्त के हृदय का क्या मुक़ाबला करेगा। तो, सन्त के हृदय के लिए नवनीत की उपमा देने का अर्थ है, सन्त का अपमान करना!

तो, जब मेरे सम्मुख सन्त भूधर के से जीवन आते हैं, जब मैं इतिहास के पन्ने पलटते हुये ऐसे सन्तों के दर्शन करता हूँ—उन सन्तों की अमृत-भरी वाणी का रसास्वादन करता हूँ—तो, मन में प्रेम और अमृत की लहर-सी दौड़ जाती है, मेरा हृदय गद्‌गद् हो जाता है—और उस समय मुझे ऐसा जान पड़ने लगता है, जैसे मैं एक अमृत-भरे सागर के समीप खड़ा हूँ, जिस की लहरें मेरे जीवन में शान्ति भरे-दे रही हैं, मेरे मन में अमृत भरे दे रही हैं।

इसीलिये आचार्य सूरी ने श्रमण की व्याख्या करते हुये

कहा—श्रमण वह है, जो श्रम करता है, जो परिश्रम करता है, जो महनत करता है। और महनत करने का अर्थ है, अपने महाव्रतों को जगाना। तप में, त्याग में ठीक तरह से जुट जाना। अपने जीवन की उन्नति और संसार के सारे प्राणियों की उन्नति में लग जाना।

और भगवान् महावीर ने भी इस सम्बन्ध में यही फरमाया- आत्मा के उत्थान के लिये भीख माँगने की मनोवृत्ति काम नहीं दे-सकती। इधर-उधर सहारा टटोलने की मनोवृत्ति शान्ति नहीं दे सकती। मनुष्य गिरता है तो अपने आप गिरता है और अगर ऊपर उठता है तो अपने आप ऊपर उठता है। अपने जीवन का निर्माण वह स्वयं करता है। चाहे वह राम बने, चाहे रावण! चाहे वह देवता बने, चाहे राक्षस! वह अपने जीवन को आबाद भी कर सकता है और बर्बाद भी!

इस प्रकार भारतीय दर्शन इन्सान के सामने उसकी जिन्दगी के सारे भेद खोल देता है। भूले-भटके अथवा गुमराह इन्सानों के लिये मार्ग-प्रदर्शक का कार्य करता है। जो, कमजोर हैं, उनमें शक्ति का स्रोत बहा देता है। जो, अपने जीवन से हताश और निराश हो गये हैं, उनमें जीवन के प्रति प्रेरणा उत्पन्न करता है। उनसे वह कहता है—स्वयँ को दुर्बल समझ कर हताश हो जाने वाले व्यक्ति ! तू भूल रहा है—अपनी शक्ति को पहचान। वह तेरे अन्दर अभी भी विद्यमान है। वह तुझ से अलग नहीं हो गई है—वह तुझी में समाई हुई है। तू उसे जागृत कर। अपनी

सोई हुई शक्ति को जगा। तेरा कल्याण निश्चित् है! समाज, राष्ट्र और जीवन के क्षेत्र में तू तभी आगे बढ़ सकता है, जब तेरी सोई हुई शक्ति जाग जायेगी। इस बात को तू भली प्रकार से समझ ले कि शक्ति की सर्वत्र आवश्यकता है। ससार के अन्दर जो दुर्बल हैं—वे, गली के कुत्ते की भाँति अपना जीवन गुज़ार देते हैं; मगर जिनमें समाज और राष्ट्र में प्रचलित विकारों से लड़ने की क्षमता है, वे जीवन जीवित कहे जाते हैं। ऐसे ही लोगों का, ऐसे राष्ट्रों का इतिहास लाखों वर्ष तक ज़िन्दा रहता है।

मगर जो क़ौमें शक्ति के नाम पर शून्यवत् होगई हैं—जो, मौका पड़ने पर मुँह छिपाती हैं, अपनी समस्याओं से सीधी टक्कर नहीं ले पातीं, जिनकी जूझने की शक्ति नष्ट हो गई है, वे क़ौमें शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं। उनका पुराना इतिहास चाहे कितना ही शानदार क्यों न रहा हो, मगर उनके बर्बाद होने में अधिक देर नहीं लगती। शक्ति के बिना वे जातियाँ और वे धर्म पनप नहीं सकते, वे जल्दी ही नष्ट-भ्रष्ट हो-जाते हैं।

तो, जो शक्ति अन्दर में समाई हुई है, उसे बाहर में लाओ। दर्शन की इस वाणी को सुनो, समझो और जीवन में उतार लो। सन्त की यह वाणी तुम्हारा कल्याण करेगी। फिर, संसार में दुख कैसा! क्लेश कैसा! नरक का जीवन कैसा! अंधेरी गलियों में भटकना कैसा! अपने भाग्य का निर्माण करने वाले तुम खुद हो। जिधर भी जाओ—अपने मन, वचन और कर्म को शुद्ध करके जाओ। अगर कहीं खड़े हो तो देखो, तुम्हारे

चारों ओर की ज़िन्दगी रो-तो नहीं रही है, दुखी तो नहीं है। अगर रो रही है तो तुम्हारा मुस्कराना किस काम का। तो, तुम्हारा मुस्कराना भी तभी फलप्रद है, जब वे रोते हुये जीवन भी तुम्हारी तरह हो मुस्कराहट में बदल जाँय। करुणा से भीगे वे आँसू भी मुस्कराने लगें। और इसके लिये आवश्यक है—तुम उन रोते हुओं को उनकी शक्ति का ज्ञान करा दो। उन मार्ग-च्युत प्राणियों को उनका मार्ग दिखादो—फिर तो, वे स्वयं ही तुम्हारी तरह मुस्कराने लगेगें। अपनी शक्ति को पहिचान लेने पर वे स्वयं ही हँसने लगेंगे।

भगवान् महावीर जब साधना में रत थे—भयंकर जीव-जन्तुओ से भरे-पुरे उस जंगल में—तो, प्रतिपल मौत उनके सम्मुख खड़ी रहती थी। तो, यह देखकर स्वर्ग का सम्राट इन्द्र, एक दिन, उनके चरणों में उपस्थित हुआ और भगवान् से बोला—'भगवान्! साधना का जीवन बहुत कठोर है—और अभी तो आपकी साधना की शुरूआत ही है, फिर, आगामी बारह वर्ष किस प्रकार व्यतीत होंगे। साधना के ये दिन कैसे कटेंगे। अगर भगवान् की आज्ञा हो तो आपकी सेवा के लिए मैं आपके पास ही रह जाऊँ। जब कभी दुख आएँ तो उन्हें हटाने का प्रयत्न करूँ। आपका गौरव सुरक्षित रक्खूँ।'

मगर इन्द्र की इस प्रार्थना के उत्तर में उस विशाल त्यागी पुरुष ने क्या कहा—उसने कहा—'हे इन्द्र! न कभी ऐसा हुआ और न कभी ऐसा होगा ही! किसी इन्द्र के भरोसे, किसी

चक्रवर्ती सम्राट के भरोसे ! (किसी प्रधान-मंत्री अथवा राष्ट्रपति के भरोसे, किसी के आशीर्वादों अथवा प्रमाण-पत्रों के भरोसे और न किसी के सन्देशो के भरोसे) न कभी किसी ने जीवन को मन्जिल तय की है और न कभी करेगा ही ! सत्य को स्वयँ ही ज्योति देना होता है। वह बाहर की सजावट, बाहर का भरोसा नहीं चाहता । वह बाहर की लूली-लँगड़ी सहायता को नहीं चाहता है। तो, हे इन्द्र ! तू उनके पास जा, जो तेरी सहायता की आकांक्षा रखते हों। मैं तो स्वयँ हो अपने जीवन का सम्राट हूँ। अपने जीवन की प्रत्येक मन्जिल मुझे स्वयँ ही तय करनी है। मुझे तुम्हारी सहायता की अपेक्षा नहीं।'

और हमने देखा कि भगवान् को इस वाणी को अनेकों की भाँति भूधर जी ने भी सत्य कर दिखाया। सत्य के मार्ग में आगे बढ़ते हुए उन पर अनेक विपत्तियाँ आईं; मगर इस सन्त ने उन सबको हँसते-हँसते बर्दाश्त किया। जब दुष्ट की दुष्टता को देखकर उनके भक्त चमके, गुरु के अपमान का बदला लेने के लिए तैयार हो गये—उस राक्षस को मारने के लिए सहज भाव से आगे बढ़े—तो विक्रमी सन्त ने उन्हे रोक दिया। और उस समय उस महापुरुष ने अपने उन शिष्यों से कहा—'ठहरो भद्र ! यह तिरस्कार और यह घृणा अमृत है, मुझे आनन्द-पूर्वक इसका पान करने दो।'

तो, सन्त सभी आपत्तियों को हँसते हुए झेलता है। अपमान, तिरस्कार, घृणा और द्वेष के विष का पान शिवशकर के

समान करता है। वह उस विष को अमृत के समान ग्रहण करता है—उसे अमृत समझता है। इस तीव्र विष की भयंकर लपटों में से गुज़रता हुआ वह अपनी मन्ज़िल को तय करता है। इस प्रकार वह सोना बन जाता है और जीवन-धाम मोक्ष को प्राप्त करता है।

जोधपुर
१८-१०-५३

महापर्व पर्युषण

आज का दिवस एक मङ्गलमय दिवस है—क्योंकि पर्वों में अग्रणी पर्व पर्युषण का आज प्रारम्भ हो-रहा है। यह पर्व-श्रेष्ठ हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता और हमारे धर्म-मय जीवन के समुज्ज्वल सिद्धान्तों का प्रतीक है। तो, जब यह संस्कृति, सभ्यता और धार्मिक जीवन के सिद्धान्तों का प्रतीक है—तो, इसके सम्बन्ध में यह जानना परम्-आवश्यक हो जाता है कि जैन-धर्म का यह सांस्कृतिक और धार्मिक पर्व किस कारण इतना महत्त्व प्राप्त कर सका है? इसका महत्त्व क्या है? और इसके मनाने का उद्देश्य क्या है? वास्तव में, अगर इस पर्व की मूल आत्मा अथवा इसके गम्भीर रहस्य को हम समझ जाँय—तो, हम अपनी संस्कृति को भी भली प्रकार से समझ जायेंगे। उसे भली-भाँति

जान जायेंगे।

भारत की विराट् जन-चेतना में प्रतिवर्ष अनेकानेक पर्व मनाये जाते है—उनमें से कुछ चलताऊ ढँग पर और दूसरे कुछ शान और शौकत के साथ। और इस बात को कहने का मेरा मतलब केवल इतना है कि जो पर्व जितने उत्साह और उमङ्ग के साथ मनाया जाता है, वह अपने में उतना ही महत्त्वपूर्ण है और उसकी उतनी ही अधिक उपयोगिता है। तो, देखते हैं कि उस पर्व के विषय में हमारा उत्साह, हमारी उमङ्ग तो अभी भी पूर्वजों-जैसी ही बनी है, उसमें तो कुछ भी कमी नहीं हुई है; मगर उस पर्व की आत्मा के विषय में हमारा ज्ञान लुप्त-प्राय: हो गया है। तो, आज यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम उसकी उपयोगिता को बिल्कुल ही भूल गये हैं और इस तथ्य को जानने की ओर बिल्कुल ध्यान भी नहीं देते। तो, अगर हम किसी पर्व को, उसके सम्बन्ध में कुछ भी जाने विना, केवल मनाने की गरज में बावले होकर ही मनाते हैं—तो, यह उस पर्व का मनाना अथवा पर्वाराधन नहीं कहलायेगा; बल्कि यह तो एक प्रकार से उसका दिखावा करना ही समझा जायेगा। तो, हमें चाहिये कि हम किसी भी पर्व के शरीर की नहीं, बल्कि उसकी आत्मा की पूजा करें। उसके अन्तस्तल का शृङ्गार करें। उसके मूल-धर्म को पहिचाने। उसमें निहित प्रकाश-पुँज के दर्शन करें।

और अगर हम ऐसा नहीं करते हैं—केवल उसको धूमधाम से मनाने में ही उसकी इति-श्री समझते हैं—तो, इस रूप में तो

हम उसकी आत्मा की नहीं, बल्कि उसके शरीर की ही पूजा करते हैं। और किसी पर्व के शरीर की पूजा करने का अर्थ है—उस पर्व की अच्छाइयों से महरूम हो जाना। पर्व की वास्तविकता से दूर हट जाना। उसके गुण को भूल जाना—तो, अच्छी बातों की ओर ध्यान ही न देना। मनाते समय उसके सच्चे स्वरूप की झाँकी न करना, उसके अन्तर्मन को न छूना और इस प्रकार धीरे-धीरे उसके मनाने के ढँग में भी अनेक हेर-फेर कर लेना। उसके वास्तविक रूप को भूल जाना और गलत ढँग पर उसे मनाते चलना। और वास्तव में आज-कल प्रत्येक पर्व कुछ इसी रूप में मनाया जाता है—जिससे पर्वों के महासमुद्र में डुबकी लगाने पर भी हम सूखे ही निकलते हैं। तो, यह तो जीवन की एक विडम्बना है, जिसका सुधार हमें आज नहीं तो कल करना ही होगा—अन्यथा एक दिन वह आयेगा कि ये पर्व स्वयँ भी हमारी दृष्टि से ओझल हो जायेंगे। जिस प्रकार आज-कल हम पर्वों की उपयोगिता को भूल गये हैं—उसी तरह हम उस दिन इन पर्वों को भी भूल जायेंगे। और पर्वों को भूल जाने का अर्थ होगा—अपनी संस्कृति के औचित्य को भुला देना। तो, अपनी संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर लेना। और अपनी संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर लेने का अर्थ है—अपने हाथों अपना सब-कुछ फूँक लेना। अपने धन में स्वयँ आग लगा लेना।

और जो जातियाँ इस प्रकार अपनी अनमोल धरोहर में अपने ही हाथों आग लगा लेती हैं, वे सर्वदा सवदा के लिये इस

संसार से मिट जाया करती हैं। अपनी संस्कृति को नष्ट कर क्या कोई क़ौम कभी जीवित रह सकी है—और मेरे इस प्रश्न का उत्तर केवल एक ही है—कभी भी नहीं। तो, जीवित रहने के लिये यह आवश्यक है कि हम अपनी संस्कृति को अजर, अमर और अक्षुण बनाये रक्खें। उसकी रक्षा करें और किसी भी मूल्य पर उसे नष्ट न होने दें।

यदि हम पर्वों के इतिहास को ज़रा बारीक़ी से देखने का प्रयास करें तो हमें ज्ञात हो जायेगा कि सभी पर्व एक ही भावना से नहीं मनाये जाते हैं। उनमें से कुछ पर्व तो ऐसे हैं, जो भय, आतङ्क और त्रास के कारण मनाये जाते हैं। और कुछ ऐसे हैं जो भोग, विलास और ऐश्वर्य के लिये मनाये जाते हैं। तो, भय और लोभ से मनाये जाने वाले पर्वों का सम्बन्ध हमारे शरीर और मन से हो-सकता है, हमारी आत्मा से नहीं। मैं आप लोगों से कह रहा हूँ कि आज का जो पर्व है, वह किसी देवता को प्रसन्न करने के लिये नहीं है। सोने के सिंहासनों को प्राप्त करने के लिये नहीं है और न भय तथा आतङ्क से छुटकारा पाने के लिये ही है। तो, यह तो आत्म-देव की आराधना के लिये है। अखण्ड आनन्द पाने के लिये है।

तो, जो लोग इस पर्व के सम्बन्ध में भी यह समझते हैं कि यह सांसारिक अर्थाभाव आदि दुखों से छुटकारा पाने के लिये मनाया जाता है—वे भूल करते हैं। अगर आप जैन-धर्म के मूल सिद्धान्तों की ओर तनिक भी ध्यान दें—तो, इस बात को आप

भली-भाँति समझ जाँय कि इस पर्व का सीधा सम्बन्ध दुनिया की मुसीबतों से छुटकारा पाने से नहीं है; बल्कि विकार और वासनाओं के साथ निरन्तर जूझते रहने से है। वास्तव में, इन विकार और वासनाओं के कारण ही यह आत्मा दिन-प्रति-दिन गन्दी और कलुषित होती रहती है—और यह पर्व आत्मा की मुक्ति के हेतु इन विकारों और वासनाओं से लड़ने की हमें प्रेरणा देता है। मनोविकारों, वासनाओं और अपनी वाणी के दोषों से बचने के लिए शिक्षा देना ही इस पर्व का मुख्य उद्देश्य है। वास्तव में, यह पर्व हमारी आत्म-शुद्धि का पर्व है—न कि दुखों से छुटकारा पाने की कल्पना इसमें निहित है।

अपवित्रता एक चीज है और दुख एक बिल्कुल दूसरी चीज! वासनाओं और विकारों के कारण मनुष्य का व्यक्तिगत्, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन निकम्मा और गंदा हो-जाता है। अगर आप थोड़ी-सी देर के लिये भी अपने जीवन के विषय में सोचने बैठें—तो, आप अनुभव करेंगे कि आप छीना-झपटी और लड़ाई-झगड़ों में लिप्त हैं, आपका आचरण भी शुद्ध नहीं है, दिन में न जाने कितनी बार आप विकार और वासनाओं के पीछे दौड़ लगाते हैं, अहंकार के पीछे तो प्रतिक्षण दौड़ते हैं—धन और ऐश्वर्य का अहंकार आपको है, प्रतिष्ठा का अहंकार आपको है और आप उसमें पागल-से हो रहे हैं—किसी को भी आप किसी भी क्षण कोई भी बुरी बात कह देते हैं, किसी को भी पीट डालते हैं—क्योंकि आप जानते हैं, आप धनवान्

हैं—और आज की दुनिया में धन का ही बोलबाला है—तो, कोई आपका बिगाड़ भी क्या सकता है—तो, मैं कहता हूँ, आप की इसी दूषित मनोवृत्ति के कारण ही तो परिवार में, समाज में और राष्ट्र में यह अनैतिकता फैली हुई है! वास्तव में सभी प्रकार के दुखों और आपत्तियों के लिये जिम्मेदार आपकी वासना और आपके विकार ही हैं। अगर आप इस ओर के अपने विचारों में जरा भी गहरे पैठ जायेंगे—तो, आपको ठीक यही महसूस होगा—जो कुछ कि मैं कर रहा हूँ। और मैं आपसे वही बात कह रहा हूँ, जो हजारों-लाखो वर्षों से आपसे कही जाती रही है। जिसे ज्ञानियो ने आपसे हमेशा कहा है। तो, मैं तो उन महापुरुषों के अनमोल बोलों को आपके सम्मुख दोहरा-भर रहा हूँ। तो, बात तो बहुत पुरानी है और पूर्वज विचारकों के द्वारा बार-बार कही गई है और आज के इस कहने में शब्द मेरे हैं। आप सुन रहे हैं और मैं कह रहा हूँ—तो, इस सुनने और कहने का सुफल तभी प्राप्त होगा—जब इस ओर ध्यान दिया जायेगा। और अगर ध्यान न दिया गया तो कहना और सुनना सब निरर्थक हो गया। बेकार चला गया। तो, ऐसे कहने-सुनने से फिर लाभ ही क्या हुआ—कुछ भी तो नहीं। तो, कहने और सुनने का भी उपयोग कीजिये। अगर कहने वाला कह गया और सुनने वाला पल्ला झाड़कर उठ बैठा और घर या दूकान पर पहुँच कर अपने विकारों में लिप्त हो गया—तो, कहने और सुनने के वे क्षण भी नष्ट हो

गये। तो, इन क्षणों को अगर जीवित रखना चाहते हो तो पल्ला झाड़कर नहीं—पल्ले में गाँठ बाँध कर उठो—और जीवन की राह में पहुँच कर उसे जीवन-व्यवहार में उतारो—तभी ये क्षण जीवित रह सकते हैं, अन्यथा नही।

अभी-अभी मैं आपसे कह रहा था—सभी प्रकार के दुखों और आपत्तियो के लिए जिम्मेदार आपकी वासना और आपके विकार ही हैं—

इसीलिए भगवान महावीर ने कभी भी यह नहीं कहा कि आप अपनी मुसीबतों या दुखों से लड़ें—इसके विपरीत उन्होंने सर्वदा यही कहा कि आप अपनी वासना से लड़ें, विकारों से लड़ें और अपनी दूषित मनोवृत्ति से लड़ें। जैन-धर्म कहता है कि विष-वृक्ष के पत्तों को नहीं, उसकी जड़ को काटिये। असाता वेदनीय कर्म इतना भयंकर नहीं है, जितना कि ज्ञानवरण, मोहनीय और अन्तराय है। राग, द्वेष और अहंकार जीवन के विकास में सर्वदा बाधक बनते हैं—इसलिए जीवन के विकास के लिये इन विकारों से सर्वदा लड़िये।

दरअसल इन विकारों ने ही मनुष्य के अखंड जीवन के टुकड़े-टुकड़े कर दिये हैं—उसका जीवन क़ौम और पंथ के नाम पर अलग-अलग हिस्सों में बँट गया है—तो, जब उसका अज्ञान दूर होगा—तो, उसके जीवन में से मेरे-तेरे का भाव भी निकल जायेगा। और जब मोह का यह भाव निकल जायेगा—तो, मनुष्य-जीवन की ओर आने वाली आपत्तियाँ उससे दूर

ही खड़ी रह जायेंगी। दुख और क्लेश उसके पास फटकेंगे भी नहीं। फिर तो जीवन का सच्चा स्वरूप ही हर समय उसके सम्मुख रहेगा और जीवन निरन्तर असत् से सत् की ओर, हिंसा से अहिंसा की ओर, चौर्य से अचौर्य की ओर, अब्रह्मचर्य से ब्रह्मचर्य की ओर और परिग्रह से अपरिग्रह की ओर क़दम-क़दम कर बढ़ता चला जायेगा।

और आज के पर्व पर्युषण में जीवन का यही मंगल भाव छिपा है। तो, यह महान् पर्व स्वर्ग के सुखों का दाता नहीं है—और न उस ओर यह संकेत ही करता है—इसके विपरीत यह तो आपके जीवन को मोक्ष की ओर ले-जाने के लिये ही है। यह तो आत्म-दर्शन कराने वाला पर्व है—तो, आज के दिन भाई अगर बढ़िया कपड़े पहिन लें, बहिनें क़ीमती और भड़कीले वस्त्र तथा मूल्यवान् आभूषण धारण करलें—तो, इस बाहरी रूप बदल लेने से तो कुछ होना-जाना है नहीं। यह तो पर्व है, कोई उत्सव नहीं। इसको इसीके रूप में मनाने के लिये तो आप-सबको अपने अन्तर को बदलना होगा। मन को बदलना होगा। और इस प्रकार अपने जीवन को बदलकर इस पर्व को मनाना होगा। तो, जैन-धर्म कारण से लड़ने की प्रेरणा देता है, कार्य से नहीं। मैंने अभी-अभी आपसे कहा—वह किसी विष-वृक्ष के पत्तों को नोचना नहीं सिखाता—क्योंकि आपने अगर उस वृक्ष के समूचे पत्ते भी नोंच डाले—और इस प्रकार उसे नगा भी कर दिया तो क्या हुआ—कुछ भी तो नहीं।

कुछ ही दिनों के अन्तर से पत्ते तो उस वृक्ष पर फिर लद जायेंगे—तो, जैन-धर्म किसी भी विष-वृक्ष के पत्तों को नोंच-फेंकने पर विश्वास नहीं करता—इसके विपरीत वह तो उस जहरीले वृक्ष की मूल पर ही प्रहार करना पसन्द करता है। वह तो उसे समूल ही नष्ट करने का पक्षपाती है। क्योंकि विष-वृक्ष के विष की थैली या पोटली तो उसकी जड़ में है, न कि उसके पत्तों में—तो, जैनधर्म की मूल-प्रेरणा इसी में है। वह यही कहता है, कारण से लड़ो—न कि कार्य से! कार्य से जूझने से कोई लाभ नहीं है; मगर कारण से लड़ने पर बुराइयों का विष-बीज ही नष्ट हो जायेगा।

तो, आज का पर्व मूलतः इसी बात की प्रेरणा देता है कि आप अपने अन्तर की पोशाक बदलिए—बाहर की पोशाक बदल लेने से काम नहीं चलेगा। बाहर की पोशाक तो अहंकार को बढ़ावा देने वाली है—वासना की आग को भड़काने वाली है—उससे सभी के मन में आनन्द की लहर नहीं दौड़ती, भ्रातृत्व की भावना पैदा नहीं होती, परस्पर सहयोग के भाव नहीं जागते—इसीलिए कोई भी परस्पर एक-दूसरे के दुख-सुख के साझीदार नहीं बन पाते—तो, इस तरह तो इस पर्व का रूप ही बदल जाता है। उसकी असलियत ही नष्ट हो-जाती है। तो, यह पर्व फिर पर्व न रहकर उत्सव का रूप धारण कर लेता है। और इस प्रकार अपने अज्ञान के कारण इसके रूप को बदल देने का अर्थ है, इस पर्व की महत्ता को कम कर देना। तो,

आत्मा की बात को भुला देना और पिंड की बात को याद रखना। जैन-धर्म की मूल-प्रेरणा से दूर हट जाना।

इसीलिए मैं कह रहा हूँ, पर्युषण का दिन आत्म-निरीक्षण का दिन है। आत्मा को माँजने और धोने का दिन है। अपने व्यक्तिगत्, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्यों को समझने का दिन है, उन्हें मानवता की कसौटी पर कसने का दिन है। यह सोचने का दिन है कि परस्पर आपका बोलना-चालना मर्यादित है या अमर्यादित! वह मानवता की दृष्टि से सही है या नहीं। आप बोलते हैं तो ऐसे बोल तो नहीं बोलते, जिससे किसी का मन दुखता हो, किसी को पीड़ा होती हो और आप चलते हैं तो कोई निरीह प्राणी आपके पैरों-तले कुचल तो नहीं जाता। वर्ष-भर आपके मन में शान्ति की अखंड धारा प्रवाहित रहती है या नहीं—कभी-कहीं किसी रेगिस्तान में पहुँच कर वह सूख तो नहीं जाती। कहीं उसमें विरोधाभास तो उत्पन्न नहीं हो-जाता—और आप उस समय मानवता के दायरे से बाहर निकल कर तो नहीं आ-जाते। तो, अगर आपका पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मानवता के अनुकूल बह रहा है तो ठीक है और अगर वह मानवता के उसूलों का पालन नहीं कर रहा, उनके मुताबिक नहीं चल रहा—तो, वह अमर्यादित और निकम्मा है।

तो, ऐसी दशा में तो आज आपको सोचना पड़ेगा—और सोचकर जीवन को बदलना पड़ेगा। अगर आप अपने जीवन

को बदलने के लिए प्रेरणा प्राप्त करना चाहें तो आप अन्तकृत दशांग सूत्र में आई हुई अनेक महान् आत्माओं को जीवन-कथा को अपने सामने रक्खें और उनसे अनुप्रेरित हों। अगर आपने धर्म की इस पुस्तक को सुनने या पढ़ने की कभी चेष्टा की होगी तो आपको उस राजकुमार का जीवन याद होगा, जो भगवान् महावीर की वाणी सुनकर जैन-धर्म में दीक्षित हो गया। उस सेठ के विषय में आप जानते होंगे, जिसने भगवान् के समीप पहुँच कर दीक्षित होने की इच्छा प्रगट की और दीक्षा ली। उस राजा और रानी की बात भी आपको याद होगी, जिन्होंने भगवान् का प्रवचन सुनकर अपना जीवन सन्मार्ग के पथ पर मोड़ दिया। संसार की सभी विकार-वासनाओं का त्याग कर दिया और धर्म का बाना धारण कर लिया—स्वतः की इच्छा से !

तो, अगर आप भगवान् महावीर की वाणी को अपने इन कानों से नहीं, हृदय के कानों से सुनेंगे—तो, आप अनुभव करेंगे कि वैराग्य-सागर में गोता लगाने में कितना मजा है—फिर, आप भी उन राजा-रानी, उस सेठ और उस राजकुमार के समान उस आनन्द को सहज-भाव से प्राप्त कर सकते हैं। इन सब के समान राज-पाट, धन-दौलत और कामना और इच्छाओं को त्याग कर, मार्ग की अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए, शान्ति-पूर्वक अपनी जीवन-यात्रा को तय कर लेंगे। हजारों को सत्य और अहिंसा की रोशनी देते हुए अपने जीवन को सफल और सार्थक बना लेंगे।

तो, आज पर्युषण पर्व के दिन आप यह विचारना न भूलिए कि आप जीवन की अँधेरी गलियों में होकर अपना मार्ग तय कर रहे हैं या महान् आत्माओं द्वारा प्रकाशित मार्ग में से अपना रास्ता बना रहे हैं। वास्तव में, धर्म के इस मर्म को जो समझ जाते हैं, उनमे विश्व-बन्धुत्व के भाव सजग हो उठते हैं। आत्म-दर्शन के द्वारा वे विश्व-दर्शन करते हैं—तो, सभी के दुख को अपना दुख और सभी के सुख को अपना सुख मानते हैं। वे सभी के दुख-सुख को परस्पर बाँट लेते हैं। तो, आज इस पवित्र पर्व के शुभ-दिन पर आप अपने जीवन को टटोलिए और उसे बदल डालने का प्रयत्न कीजिये।

अगर आप इस पर्व को इस रूप में मनायेंगे—तो, आपको आत्मा का कल्याण होगा।

जोधपुर
६-९-५३

युवक-शक्ति राष्ट्र की गति है

जोधपुर—हजारों की संख्या में एकत्रित जोधपुर के प्रतिष्ठित नागरिक, सभी वर्गों के सरकारी अधिकारी, विभिन्न सार्वजनिक संगठनों के प्रतिनिधि, पत्रकार बन्धु और जसवन्त कालेज के छात्रों के सन्मुख ३ अक्टूबर को भाषण देते हुए श्री वर्धमान जैन श्रमण संघ के उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज के आज्ञानुवर्ती संत, प्रसिद्ध दार्शनिक और वक्ता कविवर श्री अमरचन्द्रजी ने बलपूर्वक कहा कि भारत की संस्कृति मानव की संस्कृति है। वह संस्कृति सारे विश्व को एक ही इकाई मान कर उसमें चेतना और शक्ति की ज्योति जलाती आई है! यह भारतीय संस्कृति जाति और धन के बंधनों से मुक्त होकर मानव मानव को भेद की शृंखलाओं और विषम-

ताओं को तोड़कर उनके हृदय की तंत्रियों को मिलाती है। वह विशाल अखंडता के टुकड़ों से हट कर विराट और महान् शक्ति का श्रोत वहाती है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों संस्कृतियों में यही एक-रूपता है, अतएव आज के मानव को साम्प्रदायिकता, जातीयता, रंगभेद नीति और वर्गीय द्वेष से परे रह कर भारतीय संस्कृति की मूल चेतना अहिंसा, प्रेम, सद्भावना और मानवीय कल्याण की भावना को ग्रहण करना चाहिये। यही सच्चा धर्म और कर्म है। भारत की संस्कृति इस बात की स्वतंत्रता देती है कि मनुष्य स्वयं ही राम और रावण में से किसी एक व्यक्तित्व को चुन सकता है। वह देव वनकर आदर्श रख सकता है और राक्षस वनकर जीवन का नाश भी कर सकता है। हम स्वयं अपने भाग्य के मालिक हैं, जीवन के शाहंशाह हैं अतएव तूफानी संसार को अनन्त सागर मानकर साहस और पुरुषार्थ के सहारे जीवन की किश्ती को खेते चलना चाहिए। इससे जीवन, समाज और राष्ट्र तीनों का निर्माण और उत्थान होगा, अन्यथा हमारा पतन निश्चित है।

विचार स्वतन्त्रता में विश्वास—

श्री अमर मुनि ने भारी संख्या में एकत्रित बुद्धि-जीवियों से कहा कि भारत की परम्परा अनादिकाल से विचारों की स्वतन्त्रता में विश्वास करती आई है। चाहे हम किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों, सभी के विचारों को हमें सुनना समझना चाहिए। भारत सदैव विचारों के मथन, विवेक की धारा,

उदारता के अनुकरण में विश्वास करता रहा है, उसी का अनुकरण आज भी हमें करना चाहिए। विचारों की स्वतन्त्रता ही आदर्श और सभ्य जीवन की आधार भित्ति है।

धर्म का सड़ा-गला कचरा बहाया जाय—

अपने ८० मिनट के भाषण के दौरान में मुनिजी ने कहा कि आज प्रत्येक धर्म के नीचे इतना कूड़ा करकट इकट्ठा हो गया है कि जिससे धर्म का महत्व ही नष्ट हो रहा है अतएव हमें बुद्धि और सुधार के प्रवाह से उसे बहा देना चाहिए। नारी और पुरुष समान हैं, वे तो एक ही रथ के पहिये हैं अतएव उनमें विषमता व असमानता भारतीय संस्कृति और धर्म की विरोधी परम्परा होगी।

युवक-शक्ति राष्ट्र की गति है—

अन्त में कालेज के उपस्थित छात्र-छात्राओं को प्रेरणा देते हुए आपने कहा कि वे राष्ट्र के भाग्य-निर्माता हैं। उनकी शक्ति राष्ट्र की गति है, उनकी क्रियाशीलता समाज की ज्योति है, उनकी कर्मशीलता धरती पर नया सवेरा लाने की क्षमता रखती है। अतएव वे सहनशीलता, चरित्र निर्माण अधिक विवेक, विशेष ज्ञान प्राप्त कर, समाज सुधार, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, सादगी और सदाचार आदि गुणों के द्वारा अन्तर्ज्योति को जगा कर धरती पर नवयुग का सूत्रपात्र करें— अन्यथा आने वाला कल उन्हें क्षमा नहीं करेगा। आपने प्रश्नों के उत्तर मे राजनीति मे पंथ व वर्ग का तो नहीं, पर

धर्म समन्वय का समर्थन किया—क्योंकि कोई भी धर्म क्यों न हों वह मानवीय विकास में विश्वास रखता है। आपने यह भी कहा कि कोई भी धर्म न पुराना है और न नया ही। यह तो गगा है जिसकी सारी सहायक नदियाँ हैं। अतएव पारस्परिक द्वेष से सदैव बचे रह कर सभी दर्शनों के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए।

यह वृहत् सार्वजनिक सभा जसवंत कालेज के प्रागंण में आयोजित की गई थी। अन्त में प्रिन्सिपल श्री अरोड़ा ने मुनिजी के क्रान्तिकारी और सामाजिक विचारो का छात्रों से विशेष तौर पर अनुसरण करने पर बल दिया।

'वर्त्तमान'—बीकानेर
से उद्धृत